परम पूज्य श्रुतसिन्धु १०८ आचार्यकल्प

श्री श्रुतसागरजी महाराज के ७२ वें जन्म दिवस पर

❀ श्रुत वन्दना ❀

आदर्श मोक्षपथचारी, हे समताधारिन् ! शत शत वन्दन ।
चारित्र शिरोमणि, करुणामय, हे भवहारिन् ! शत शत वन्दन ॥१॥
यम नियम शील शम दम धारी, हे अनगारिन् ! शत शत वन्दन ।
[illegible]गुणमयी सम्यक् प्रभो, हे उपकारिन् ! शत शत वन्दन ॥२॥
परवस्तु त्याग निज आतम के, हे रस स्वादिन् ! शत शत वन्दन ।
श्री शान्ति सुधारस अवतारी, हे अघहारिन् ! शत शत वन्दन ॥३॥
श्रुतिगम्य विलक्षणमति धारी, हे श्रुतशालिन् ! शत शत वन्दन ।
तप तर्क शिरोमणि गुणकारी, हे जगतारिन् ! शत शत वन्दन ॥४॥
सामायिक समता मनभावी, हे गुणधारिन् ! शत शत वन्दन ।
गरिमा है तुम पर हम सबको, हे व्रतधारिन् ! शत शत वन्दन ॥५॥
रत्नत्रय शील [illegible] हो, हे गुणधारिन् ! शत शत वन्दन ।
जन संघ सभी को मोह लिया, संयमधारिन् ! शत शत वन्दन ॥६॥
[illegible], गुणी हे श्रुतधारिन् ! शत शत वन्दन ।
[illegible], [illegible] ! शत शत वन्दन ॥७॥
[illegible], हे [illegible] ! शत शत वन्दन ।
[illegible], कल्याणकारिन् ! शत शत वन्दन ॥८॥

प्रस्तावना

मोहोदय जन्य-रागादि विकारी भावों से रहित आत्मा की निर्मल परिणति को आचार्यों ने धर्म कहा है। इस प्रकार का धर्म जब इस जीव को प्राप्त होता है तब ही वह अविचल-अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त धर्म की प्राप्ति में सहायक जीव की जो शुभराग रूप परिणति है उसे भी आचार्यों ने उपचार से धर्म कहा है। उपचार धर्म से सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है और आत्मा की निर्मल परिणतिरूप धर्म से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

आत्मा में धर्म का विकास क्रम से होता है अर्थात् जीव, सर्व प्रथम अशुभराग से निवृत्त हो शुभराग में आता है और उसके बाद अशुभ-शुभ-दोनों प्रकार के रागभावों से रहित होकर वीतराग भाव को प्राप्त होता है। जब तक वीतराग भाव की प्राप्ति नहीं होगी तब तक वह जीव अपनी भूमिका के अनुसार शुभराग के कार्यों में प्रवृत्त होता है और अशुभराग के कार्यों से दूर रहता है। शुभराग के कार्यों में प्रवृत्त रहता हुआ भी वह जीव वीतराग भाव का ही लक्ष्य रखता है अर्थात् निरन्तर विचार करता रहता है कि मैं इस शुभराग से निवृत्त हो कब वीतराग भाव को प्राप्त करूँ। ऐसा विचार रखने वाला व्यक्ति कभी दिग्भ्रान्त नहीं होता। इसके विपरीत विचार वाला व्यक्ति

शुभराग में ही निमग्न रहता है और उससे च्युत होने पर अशुभराग में निमग्न होता है। वह शुभ-अशुभ की इसी धूप छांह में हर्ष विषाद करता हुआ कर्मबन्ध से युक्त होता रहता है।

श्रावक धर्म, इसी शुभराग रूप धर्म का एक अङ्ग है। इसे आचार्यों ने देश विरत अथवा संयमासंयम कहा है इसमें हिंसादि पाँच पापों का स्थूल रूप से एक देश त्याग होता है। जितने अंशों में पाप का त्याग होता है उतने अंशों में संयम होता है और जितने अंशों में पाप का त्याग नहीं होता है उतने अंशों में असंयम रहता है। जैसे अहिंसाणुव्रत में त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग हो जाने से संयम प्रकट होता है और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग न होने से असंयम विद्यमान रहता है करणानुयोग की अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का अनुदय या क्षयोपशम होने पर यह अवस्था प्रकट होती है। इसका एक ही गुणस्थान है—पञ्चम। अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हो जाने पर प्रत्याख्यानावरण के उदय की तीव्रता, मन्दता या मध्यमता के होने से श्रावक व्रत के ग्यारह भेद हो जाते हैं अर्थात् ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में पूज्य श्री १०५ विशुद्धमति माताजी ने श्रावक धर्म का स्वरूप सरल भाषा में वर्णन किया है उन्होंने अष्टमूल गुणों से श्रावक धर्म का प्रारम्भ किया है। अष्टमूल गुणों के पहले इस [illegible] की [illegible] बतलाना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना यह [illegible] कहा जाता है। [illegible]

को तृप्ति नहीं होती, यह आश्चर्य की बात है। पांच पापों [illegible] एक देश त्याग करने से यह मानव अणुव्रती बन सकता है। अणुव्रती बनने से अनेक झमेलों से स्वयं रक्षा हो जाती है।

करणानुयोग की आज्ञा है कि जिस जीव को देवायु [illegible] सिवाय अन्य आयु का बन्ध हो गया है उसे उस भव में न तो अणुव्रत हो सकते हैं और न महाव्रत। अणुव्रती या महाव्रती बन जाने पर नियम से देवायु का ही बन्ध होता है। इसलिए जिन्हें संसार के सुखोपभोग की इच्छा है उन्हें भी पांच पाप का परित्याग कर अणुव्रती बनना श्रेयस्कर है। वर्तमान युग में जो अनाचार या अत्याक्रान्ति बढ़ रही है उसका मूल कारण पाप से घृणा नहीं होना है। पाप से घृणा होने पर जीवन में जो आत्मानन्द प्रकट होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

स्मृति दिवस के प्रसंग पर पूज्यवर दिवंगत आचार्य शिवसागरजी की प्रशान्त मुद्रा आंखों के सामने झूमने लगती है। स्व-पर हित में निरन्तर जागरूक रहने वाले पूज्य आचार्यवर्य में संघ संचालन की जितनी कुशलता या क्षमता थी वह वचनों के द्वारा नहीं कहा जा सकता। उनके रहते एक विशाल संघ के रूप में हम उनके दर्शन करते थे परन्तु उनके दिवंगत होते ही विशाल संघ कई भागों में विभक्त हो गया। बड़ी श्रद्धा थी मेरी उनमें और उस श्रद्धा के [illegible] सामाजिक [illegible] से जिसका उल्लेख [illegible] शिवसागर स्मृति ग्रन्थ में किया है। [illegible] नहीं है [illegible]

चित्र दिए गए हैं—एक चित्र है आचार्य विद्यासागरजी महाराज
। और दूसरा चित्र है उनके अनन्य सहयोगी आचार्य कल्प श्रुत-
ागर जी महाराज का। जब जब इन चित्रों पर दृष्टि पड़ती है
ब आँखों में आँसू और हृदय में एक विचित्र प्रकार का उद्वेग
त्पन्न हो जाता है।

पूज्य माता विशुद्धमति जी उनकी स्मृति में प्रति वर्ष
ाहित्यप्रसून अर्पित करती आ रही हैं यह उनकी कृतज्ञता अनु-
करणीय है। यदि इसी प्रकार प्रत्येक साधु या साध्वी अपने ज्ञान
ा प्रचार प्रसार करते रहें तो जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार
सार सरलता से हो जावे। साधु-साध्वी के प्रति जनता की भक्ति
ा स्रोत स्वयं प्रवाहित रहता है। उनकी पुण्य लेखनी से लिखित
हित्य को जनता स्वेच्छा से प्रकाशित करती है और श्रद्धा से उसे
ढ़ती है।

माताजी के द्वारा जिनागम और जिनधर्म का प्रचार इसी
कार होता रहे यही शुभ कामना है।

सागर विनीत

२७-३-७८ पन्नालाल साहित्याचार्य

छुटकारा चाहते हो तो समीचीन धर्म धारण करो, क्योंकि यह धर्म अनादि काल से दुखी जीवों को संसार के दुःखों से निकाल निकाल कर सुख में पहुँचा रहा है। जैसे पेट भर भोजन कर लेने के बाद जीव नियम से भूख जन्य दुख से छुटकारा पा जाता है, उसी प्रकार समीचीन धर्म धारण करने वाले जीव नियम से सच्चे सुख को प्राप्त हो जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि जो धर्म इतना उपकारी है उसका लक्षण क्या है? अर्थात् धर्म कहते किसे हैं? आचार्यों ने अनेक प्रकार से समझाने के लिए अहिंसा को धर्म कहा है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र अर्थात् रत्नत्रय को धर्म कहा है उत्तम क्षमा आदि दशधर्म भी धर्म कहा जाता है, इसी प्रकार करने योग्य कर्त्तव्य का नाम भी धर्म है। प्रत्येक प्राणी यदि अपनी अपनी योग्यतानुसार निरन्तर करने योग्य कर्त्तव्य का पालन करते रहें और अकर्त्तव्यों से अपनी रक्षा करते रहें, तो यही धर्म उन्हें संसार के दुःखों से छुड़ा कर सुख स्थान तक पहुँचाने में परम सहायक हो सकता है।

यह जीव अपने अपने शुभ अशुभ कर्मानुसार कभी नीच योनियों से उत्तम योनियों में और कभी उत्तम योनियों से नीच योनियों में जन्म लेता है, तथा जहाँ भी जन्म लेता है वहाँ के कुछ न कुछ संस्कार लेकर अवश्य आता है, इसलिए उन संस्कारों के नाश करने हेतु और अच्छे संस्कारों से संस्कारित करने के [illegible] में कही हुई [illegible] आदि क्रियाएं अवश्य करनी [illegible]।

हुये भोज्य पदार्थ का आत्मा पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। वालकों के भोजन पान का प्रारम्भ से ही ध्यान रखना च

चार पांच वर्ष की अवस्था से ही बालकों का प्रारम्भ करा दिया जाता है। वर्तमान की सम्पूर्ण शिक्ष धर्म निरपेक्ष, नैतिक शिक्षण से शून्य और चारित्र नि रहित है, इस कारण आज के विद्यार्थियों में आज्ञा पालन शिष्टाचार और धार्मिक भावनाओं का अभाव है, यह है कि आज के शत-प्रतिशत बालक-बालिकाएँ पाश्चात के शौकीन, अभक्ष्य-भक्ष्य के ज्ञान से रहित, प्रमादी, उद्दण्ड और रात्रि को भोजन करने वाले होते हैं, इस मन उच्छृङ्खल तथा शरीर रोगी रहता है।

अष्टमूलगुण

मूल गुण मुख्य गुणों को कहते हैं। जैसे जड़ वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार अष्टमूलगुण धारण कि श्रावक नहीं कहलाता।

(१) मद्य, मांस, मधु, बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर औ इनका त्याग अष्टमूलगुण हैं।

(२) मद्य, मांस, मधु त्याग तथा स्थूल रूप से हिंसा, झूठ कुशील और परिग्रह का एक देश त्याग भी मूलगु

(३) मद्य, मांस, जुआ त्याग और हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह का स्थूल रूप से त्याग भी मूलगुण

हुये भोज्य पदार्थ का आत्मा पर प्रभाव अवश्य पड़
बालकों के भोजन पान का प्रारम्भ से ही ध्यान रख

चार पांच वर्ष की अवस्था से ही बाल
प्रारम्भ करा दिया जाता है। वर्तमान की सम्पूर्ण
धर्म निरपेक्ष, नैतिक शिक्षण से शून्य और धा
रहित है, इस कारण आज के विद्यार्थियों में आज्ञा
शिष्टाचार और धार्मिक भावनाओं का अभाव है
है कि आज के शत-प्रतिशत बालक-बालिकाएँ पा
के शौकीन, अभक्ष्य-भक्ष्य के ज्ञान से रहित, प्रम
उद्दण्ड और रात्रि को भोजन करने वाले होते है
मन उच्छृङ्खल तथा शरीर रोगी रहता है।

अष्टमूलगुण

मूल गुण मुख्य गुणों को कहते हैं। जैसे
वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार अष्टमूलगुण धार
श्रावक नहीं कहलाता।

(१) मद्य, मांस, मधु, बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर
इनका त्याग अष्टमूलगुण है।

(२) मद्य, मांस, मधु त्याग एवं स्थूल रूप से हिंस
कुशील और परिग्रह का एक देश त्याग भी

(३) मद्य, मांस, जूआ त्याग और हिंसा, झूठ,
और परिग्रह का स्थूल रूप से त्याग भी मू

एक का सेवन अवश्य करना पडेगा । सन्य
कि-स्मृतियों में एक तिल या सरसों के बराबर भी
पर बहुत पाप बतलाया है । भिल्लनी के साथ सम
भी पाप होता है और प्रायश्चित लेना पड़ता है,
यज्ञों के सिरमौर सौत्रामणि नाम के यज्ञ में श
अनुमति दी गई है, और पीठी, जल, गुड़ एवं धत
पदार्थों से शराब बनती है वे भी शुद्ध ही होते हैं
लेना चाहिये । उसने शराब पीली, और उसके नशे
भिल्लनी का सेवन कर लिया तथा भूख लगने पर
लिया । इस प्रकार एक मदिरा पान से समस्त प
होकर वह एकपाद नाम का सन्यासी मर कर
पात्र हुआ ।

इस प्रकार मदिरा पान करने से इस लोक
में भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं, इसलिये कभी भ
प्राणी को कैसी भी परिस्थिति उपस्थित हो जाने
नहीं पीना चाहिए । शराब का जीवन पर्यन्त त
देना चाहिए ।

२. मांस त्याग —

मांस की उत्पत्ति त्रस जीवों के घात से
[illegible] प्रकार के मांस में अनन्तानन्त [illegible]
हो जाते हैं इसलिए अहिंसा धर्म की रक्षा के लिए म
[illegible]

थका और भूखा प्यासा धीवर वहीं नीम के वृक्ष की जड़ पर सि
रख कर सो गया। रात्रि को सर्प ने उसे डस लिया। व्रत के प्रभा
से वह धीवर मर कर धनकीर्ति नाम का सेठ हुआ, जन्म से लेक
उसके विवाह पर्यन्त उसे मारने के पांच बार सुदृढ़ प्रयत्न कि
गये किन्तु एक जीव दया प्रतिपालन के प्रभाव से वह बचता गया
राजा की लड़की से शादी हुई, आधा राज्य मिला, नगर सेठ बन
और संसार के अनुपम सुख भोगे। अनन्तर दीक्षा लेकर उग्र उग्र
तपश्चरण किया। और मर कर सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हुआ।
मृगसेन धीवर के समान जो भी मनुष्य सुख एवं आत्म कल्याण
चाहते हैं उन्हें जीव दया नामक मूलगुण अवश्य ग्रहण करना
चाहिए।

८. देवदर्शन —

सूर्योदय से अड़तालीस मिनिट पूर्व के काल की देवी
ब्राह्मी-सरस्वती है, इसलिए इस काल को ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं।
प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर सर्व प्रथम अन्तर्जल्प (मन ही
मन में) पूर्वक महामन्त्र णमोकार का स्मरण करना चाहिए,
तदनन्तर अपने विषय में एवं अपने कर्तव्य के विषय में कुछ शा
विचार करना चाहिये तथा श्रावक धर्म रूप क्रियाओं के प्रतिपालन
में "मैं प्रमाद रूप प्रवृत्ति नहीं करूँगा" इस प्रकार का संकल्प कर
तथा शय्या से उठ कर विधिपूर्वक शौच, स्नान एवं दन्तधावनादि
क्रियाएं करके हाथ में अक्षत चावल लेकर मन की एकाग्रता एवं
उत्साह पूर्वक मन्दिर के लिये गमन करना चाहिये। मार्ग में प्र

नाश कर दिया है तथा जिनमें छयालीस गुण होते हैं, उन्हें अरहन्त कहते हैं।

जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का नाश कर दिया है, जो आठ गुणों से सहित हैं, लोकके अग्रभाग में अवस्थित हैं एवं अपने आत्मोत्थ आनन्द में लीन हैं उन्हें, सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं।

जिनमें १२ तप, १० धर्म, ५ पंचाचार, ६ आवश्यक और तीन गुप्ति रूप छत्तीस गुण होते हैं, जो संघ के अधिनायक होते हैं। शिष्यों को शिक्षा, दिक्षा एवं प्रायश्चित आदि देते हैं। जो स्वयं निर्दोष चारित्र पालन करते हैं और शिष्य वर्ग को कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी होते हैं, स्वयं पढ़ते हैं तथा संघ में अन्य साधुओं को पढ़ाते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

जो पांच महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय विजय, ६ आवश्यक और ७ शेषगुणरूप अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं सदा ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं, उन्हें साधु परमेष्ठी कहते हैं।

अरहन्त भगवान के द्वारा कहे हुये दयामयी, अहिंसामयी दशधर्ममयी, रत्नत्रयमयी धर्म को जिनधर्म कहते हैं।

अरहन्त देव द्वारा दिव्यध्वनि रूप में कही हुई, स्याद्वाद लक्षण से चिह्नित, पूर्वापर विरोध से रहित और अनुमान आदि

चारित्रेभ्योः नमः बोल कर क्रम से तीन पुञ्ज लाइन में चढ़ा क
नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु बोलते हुए नमस्कार करे। इसके बा
आर्यिकाओं के समीप जाकर वन्दामि कहते हुये तथा ऐलक
क्षुल्लक एवं क्षुल्लिकाओं को इच्छामि कह कर नमस्कार करे
व्रती जनों को वन्दना बोलकर उनका समादर करना चाहिए।

पूर्व विदेह की सुसीमा नगरी का अधिपति वरदत्त चक्र
वर्ती गन्धमादन पर्वत पर स्थित शिवघोष तीर्थंकर के समवसरण
में स्थित था। उसी समय वहाँ प्रधान देवों ने दो देवियों को लाक
सौधर्म इन्द्र से यह कहते हुए कि "हे देव ! ये देवियाँ आपकी हैं"
उन्हें समर्पित कर दिया। यह देख चक्रवर्ती ने गणधर देव
देवियों को पीछे लाये जाने का कारण पूछा। उत्तर मिला कि
इसी नगर में एक माता से उत्पन्न कुसुमावती और पुष्पलता द
माली की कन्याएँ प्रतिदिन पुष्पकरण्ड वन से पुष्प ग्रहण क
घर आते समय मार्ग में स्थित जिन मन्दिर की देहली पर एक ए
फूल चढ़ा कर दर्शन किया करतीं थीं। आज उसी वन में उन्हें
सर्प ने खा लिया, इससे मरण को प्राप्त होकर वे उस पुण्य प्रता
से सौधर्मेन्द्र की नियोगिनी हुई हैं।

जब मात्र देहली पर एक पुष्प चढ़ाने से इतना पुण्य संचय
होता है, तब जो भगवान के समीप जाकर प्रतिदिन विधिवत्
दर्शन और पूजन करते उन्हें तो निश्चित सातिशय पुण्य संचय के
साथ साथ परम्परया निर्वाण की प्राप्ति होगी।

आचार्य जिनसेनाचार्य ने मधु, मांस और मदिरा के त्याग

राज के समीप चतुर्दशी को हिंसा न करने का व्रत लिया था। राजा के नौकरों को आता देख चाण्डाल समझ गया कि मुझे वध करने के लिए बुलाने आ रहे हैं, उसने स्त्री से कहा कि आज मेरे हिंसा करने का त्याग है, अतः आप इन लोगों से कह देना कि चाण्डाल बाहर गया है। स्त्री ने सिपाहियों को वही उत्तर दे दिया सिपाही बोले—चाण्डाल बड़ा भाग्य हीन है। आज राजपुत्र को फांसी होने वाली थी, आज उसके हाथ बहुत धन आने वाला था कि आज वह बाहर चला गया? यह सुन चाण्डाली को धन का लोभ आ गया, अतः वह मुख से तो बार बार यही कहती रही कि वे गाँव गये हैं किन्तु हाथ के संकेत से उसे दिखा दिया। तदनन्तर सिपाहियों ने उसे घर से निकाल कर वध करने के लिये प्रेरित किया किन्तु उसने दृढ़ता पूर्वक कह दिया कि मैं चतुर्दशी को जीव घात नहीं करूँगा। सिपाहियों ने ले जाकर उसे राजा के समक्ष खड़ा कर दिया। उसने राजा से निवेदन किया कि महाराज—मुझे एक बार सर्प ने खा लिया था, जिससे मृत समझ कर लोग मुझे श्मशान में डाल आये थे वहां सर्वौषधि ऋद्धि धारी मुनिराज के शरीर की वायु से मैं स्वस्थ हो गया उस समय मैंने उन मुनिराज से चतुर्दशी के दिन जीवघात न करने का व्रत लिया था, इसलिए मैं आज राजकुमार का वध नहीं करूँगा। चाण्डाल की बात सुन कर राजा बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने उन दोनों को मजबूत रस्सी से [illegible] कर शिशुमार तालाब में डलवा दिया। चाण्डाल की निर्दोष व्रत का आदर कर [illegible] ने उसे नहीं छोड़ा, इसके

हुआ। किन्तु गवाही न होने के कारण जिनदेव कहता था कि मैं इसे उचित भाग देने की बात कही थी अर्धभाग देने की नहीं धनदेव सत्य बोल रहा था। राजा ने उन दोनों के हाथों पर धधकते हुए अंगारे रखवाये। इस दिव्य न्याय से धनदेव निर्दोष सिद्ध हुआ। राजा ने उसे समस्त धन दे दिया। सब लोगों ने भी धनदेव की बहुत प्रशंसा की और उसे धन्यवाद दिया। झूठ बोलने के कारण जिनदेव की लोक में निन्दा हुई, सब धन छीन लिया गया तथा अन्त में वह दुर्गति का पात्र हुआ। इससे झूठ वचन व्यवहार का त्याग करके सदा सत्य बोलना चाहिए।

अचौर्याणुव्रत का लक्षण:—

लोक में जो चोरी नाम से प्रसिद्ध है, तथा जिसके लिए राजकीय और सामाजिक दण्ड व्यवस्था हो ऐसी स्थूल चोरी का त्याग करना एवं किसी के रखे हुए, पड़े हुए, अथवा भूले हुए धन आदि को बिना दिये न स्वयं ग्रहण करना और न उठाकर दूसरों को देना अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

कोई मनुष्य अपने पास कोई वस्तु रख गया अथवा अपने मकान में कहीं धन गाड़ रखा था, मकान बेचते समय उसे निकालना भूल गये वह धन रखा हुआ कहलाता है। खरीदे हुए मकान में यदि कोई धन मिलता है तो मकान मालिक को वापिस कर देना चाहिए। किसी खण्डहर आदि में यदि कोई धन मिलता है और उसके स्वामी का पता नहीं चलता तो वह धन राजा को दे देना चाहिए। मार्ग में चलते हुए यदि किसी को गिरी हुई वस्तु दिखाई

के वचन सुन कर तथा उसे आश्वासन देकर विद्युच्चोर अर्ध रात्रि के समय सेठानी के घर गया और अपनी चतुराई से हार चुरा कर बाहर निकल आया। हार का प्रकाश देख कोतवालों ने उसे पकड़ना चाहा। जब चोर भागने में असमर्थ हो गया तब ध्यानस्थ वारिषेण कुमार के आगे हार डाल कर वहीं कहीं छिप गया। कोतवालों ने उस हार को वारिषेण के आगे पड़ा देख कर राजा श्रेणिक से कह दिया कि राजन्! वारिषेण चोर है। राजा ने वारिषेण का मस्तक काट डालने का आदेश दे दिया। चाण्डाल ने वारिषेण की गर्दन पर जितनी तलवारें चलाईं वे सब फूल मालाएँ बनतीं गईं। उस अतिशय को सुन कर राजा श्रेणिक ने वारिषेण से क्षमा मांगी। उसी समय विद्युच्चोर ने अभयदान प्राप्त कर राजा से सब वृत्तान्त कह दिया। तब राजा वारिषेण को घर ले जाने के लिए उद्यत हुए, परन्तु वारिषेण ने कहा कि अब तो मैं पाणिपात्र में भोजन करूँगा। तदनन्तर वारिषेण कुमार सूरसेन गुरु के समीप मुनि हो गये।

अचौर्याणुव्रत के माहात्म्य से तलवारों के वार भी फूल मालाएँ बन गईं। इस प्रकार के अतिशयों पर श्रद्धा करके प्रत्येक कल्याणेच्छु मनुष्यों को अणुव्रतों का पालन अवश्य करना चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण:—

जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है, उसे स्वस्त्री कहते हैं, इसके सिवा और सभी स्त्रियाँ परस्त्रियाँ कहलाती हैं। परस्त्रियाँ परिगृहीता (विवाहित) और अपरिगृहीता (स्वच्छन्द

से राजा से कहा कि जिस राजा के महल में किञ्जल्प नाम का पक्षी रहता है उसके राज्य की वृद्धि और शत्रुओं का नाश होता है।

राजा–हे मन्त्री ! वह पक्षी कहाँ मिलता है ? मुझे उसके दर्शन की तीव्र इच्छा है। मन्त्री–हे स्वामिन् ! वह पक्षी हिमालय की गुफाओं में मिलता है। मेरे या पुण्य पुरोहित के जाने पर ही मिल सकता है अन्य को नहीं।

राजा–मन्त्री ! आप तो बहुत वृद्ध हो गये हैं, अतः पुण्य को भेज कर ही वह पक्षी मंगाया जाय। राजा की आज्ञा से पुण्य हिमालय जाने को तैयार हो गया। उसकी पत्नि पद्मा सारा रहस्य समझ गई। उसने पति से कहा कि आप शुभ मुहूर्त में नगर से प्रस्थान कर दीजिए किन्तु रात्रि को वापिस आकर छिप कर अपने गृह में निवास कीजिये और आगे देखिये क्या क्या होता है। पद्मा ने कमरे में एक गहरा गड्ढा खुदाया तथा उस पर बिना बुनी चारपाई बिछा दी और उसे सुन्दर चादर आदि से सजा दी। वहाँ दूती, पद्मा की स्वीकृति अनुसार कडारपिङ्ग को लेकर आई। पद्मा ने दोनों का स्वागत किया और उसी चारपाई पर बैठाया, जिससे वे दोनों नरक कुण्ड सदृश उस गड्ढे में जा गिरे तथा पद्मा द्वारा दिया हुआ रूखा भात खा कर कुछ मास व्यतीत किये।

तदनन्तर पद्मा ने उन दोनों को गड्ढे में से निकाला, उन्हें अनेक प्रकार के रंगों से रंगा तथा अनेक प्रकार के पक्षियों के पंख उनके शरीर पर चिपका कर एक एक पिंजड़े में बन्द कर पुण्य के साथ [illegible] के [illegible] बाहर भेज दिया। प्रातः [illegible]

सुख प्राप्ति की इच्छा करने वाले सभी मनुष्यों को ब्रह्म-चर्याणुव्रत का पालन करना चाहिए।

परिग्रहपरिमाणव्रत का लक्षणः—

खेत, मकान, चांदी, स्वर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और वर्तन इन दस प्रकार अथवा खेत, मकान, धन, धान्य, द्विपद (दासी-दास), चतुष्पद (पशु आदि), शयनासन, सवारी, वस्त्र और वर्तन इन दस प्रकार के परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक में इच्छा नहीं करना परिग्रह परिमाण या इच्छा परिमाण नामका अणुव्रत है।

परिग्रह परिमाण व्रत उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। वर्तमान में जितना परिग्रह है उसे घटा (कम) कर व्रत लेना उत्तम परिग्रह परिमाण व्रत है। वर्तमान में जितना परिग्रह है उतना ही रखूँगा, इससे अधिक नहीं। यह मध्यम परिग्रह परिमाण व्रत है। वर्तमान में जितना परिग्रह है उससे अधिक की सीमा कर लेना जघन्य परिग्रहपरिमाण व्रत कहलाता है। इस अणुव्रत में अपनी इच्छानुसार परिग्रह का प्रमाण किया जाता है इसलिए इस व्रत का दूसरा नाम इच्छा-परिमाण व्रत भी है।

कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर में राजा सोमप्रभ के जय-कुमार नाम का पुत्र था, उसकी सुलोचना नाम की पट्टरानी थी। जयकुमार परिग्रह परिमाण व्रत का धारी था। [illegible] के एक समय [illegible] और प्रभा-

वती विद्याधर का रूप धारण कर मेरु तथा कैलाश आदि की वंदना को गये, उसी समय इन्द्र ने जयकुमार के परिग्रहपरिमाण-व्रत की प्रशंसा की। जिससे जयकुमार की परीक्षा हेतु रतिप्रभ नाम का देव आया और स्त्री का रूप बनाकर जयकुमार से बोला कि यदि आप अपना जीवन चाहते हो तो नमि विद्याधर राजा की पट्टरानी को और उसके आधे राज्य को ग्रहण करो। उसकी बात सुन कर जयकुमार बोले कि हे माता! मेरे लिये पराया धन पत्थर सदृश और परस्त्री माता सदृश है, यह सुन कर उस देव ने जयकुमार के ऊपर बहुत उपसर्ग किये किन्तु जयकुमार विचलित नहीं हुये। तदनन्तर रतिप्रभ देव ने अपनी माया संकुचित कर स्वर्ग आदि के सर्व समाचार कहे और वस्त्र-आभूषणों से उनकी पूजन की।

परिग्रह परिमाण व्रत के प्रभाव से जयकुमार देवों द्वारा पूज्य हुए, इसलिए सभी लोगों को परिग्रह परिमाण व्रत अवश्य धारण करना चाहिए।

सप्त व्यसन

जो खोटी आदतें मनुष्यों को कल्याण के मार्ग से भ्र
करा कर दुःखों को प्राप्त करातीं हैं, उन्हें व्यसन कहते हैं। अथवा
जो पीछे लग जाने पर कठिनाई से छूटती हैं, ऐसी खोटी आदत या
आसक्ति को व्यसन कहते हैं। ये व्यसन मुख्यतः सात होते हैं—
१. जुआ खेलना, २. मद्य पीना, ३. मांस-खाना, ४. वेश्या सेवन
करना. ५. शिकार खेलना, ६. चोरी करना और ७. परस्त्री सेवन
करना। ये सातों व्यसन महा पाप रूप हैं। एक एक व्यसन का
सेवन करने वाले ही जहाँ असह्य दुःख भोगते हैं, तब सातों व्यसनों
को सेवन करने वाले तो नियम से दुर्गतियों के पात्र होते हैं।

जुआ खेलना—

रुपया-पैसा हार-जीत की शर्त लगाते हुये ताश, शतरं
आदि खेलना, सट्टा लगाना तथा अन्य और भी कार्य करना जुआ
खेलना कहलाता है। जुए से चित्त सदा आकुलित रहता है, जीत
वाला भी तृष्णावान् होकर दुखी रहता है। जुआरी का सर्व
अनादर होता है और उसे न चाहते हुये भी अन्य सब व्यसनों
बन्धन फंसना पड़ता है।

हस्तिनापुर के राजा धृतराज के धृतराष्ट्र, पाण्डु औ
विदुर ये तीन पुत्र थे। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि १०० पुत्र तथ
पाण्डु के युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव नामक पां
पुत्र थे। एक बार युधिष्ठिर ने दुर्योधन के साथ जुआ खेला, जिस

वे अपनी सारी सम्पत्ति हार गये, अन्त में उन्होंने द्रौपदी आदि को भी दांव पर लगा दिया, जिससे द्रौपदी आदि को भी अपमानित होना पड़ा तथा कुन्ती और द्रौपदी के साथ पाँचों पाण्डवों को बारह वर्ष पर्यन्त वनों में रहना पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्हें द्यूतव्यसन के निमित्त से और भी अनेक कष्ट उठाने पड़े, क्योंकि यह व्यसन सर्व अनर्थों की खान है, समस्त व्यसनों का मूल है, दुःख और दरिद्रता का बीज है, मृत्यु तुल्य कष्ट देने वाला है, धर्म विध्वंस का कारण है, नरक का द्वार है, पाप रूप वृक्ष का बीज है, यश और द्रव्य का नाशक तथा निन्दनीय है, अतः कल्याणेच्छु जीवों को सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

मद्य व्यसनः—

अनेक वस्तुओं को सड़ा कर शराब तैयार की जाती है, इससे उसमें मादकता के साथ साथ अनन्तानन्त जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। मदिरा की एक बूंद में रहने वाले जीव यदि संचार करें तो तीनों लोकों में भी नहीं समा सकते। भांग, चरस, अफीम एवं तम्बाकू आदि नशीली चीजों का सेवन करना भी मदिरा पान के दोष हैं। मद्यपायी का मन मदिरा से मोहित रहने के कारण हेय-उपादेय के ज्ञान से शून्य रहता है। जिस प्रकार अग्नि के कण से सम्पूर्ण घास जल कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मद्य पान करने से मनुष्य के विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया, क्षमा एवं समता आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं और अभिमान, हास्य, अरति, शोक, ग्लानि, भय तथा क्रोध आदि दुर्गुण प्रगट हो जाते

हैं, जिनके कारण इस लोक में निन्दा एवं अपमान आदि होता है और परलोक में दुर्गति जन्य भी दुःख भोगने पड़ते हैं, इसलिए कल्याण की इच्छा रखने वाले जीवों को इस व्यसन का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर देना चाहिए।

मांस व्यसनः—

मरे हुए जीवों का तथा मार कर जीवों के कलेवर आदि के खाने की खोटी आदत को मांस खाना कहते हैं। रज तथा वीर्य से उत्पन्न होने वाले सप्त धातुमय शरीर के घात से मांस की उत्पत्ति होती है, इसलिए इसमें निरन्तर अनन्तानन्त जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। मांस खाने वाले प्राणियों के क्षमा, दया आदि अनेक गुण नष्ट हो जाते हैं और उसे दुर्गति—नरकादि गतियों में बहुत काल पर्यंत अनेकों प्रकार की भयंकर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

कई लोग विशिष्ट विटामिन'प्राप्ति के लिए तथा शरीर को बलशाली बनाये रखने की इच्छा से मांस का सेवन करते हैं किन्तु जितने भी भक्ष्य अभक्ष्य पदार्थ हैं उन सबकी अपेक्षा मांस में शक्ति अंश कम होता है, जैसे—बादाम में ९१% शक्ति अंश है। चना आदि अन्न में, चावल में और घी में ८७% शक्ति अंश है। गेहूं एवं मक्का आदि के आटे में ८६%, किशमिश में ७३% मलाई में ६९%, मांस में २८%, अण्डे में २६% और मछली में मात्र १३% शक्ति अंश होता है। इस प्रकार [illegible] अनुपात में [illegible] [illegible] मांस भी नहीं है किन्तु मांसाहार से [illegible] प्रकार की हानियाँ हैं [illegible]

व्रत लेने के हुए, उसने महाराज श्री से विनय की और यह प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं रस्सी बुनते हुये मांस के समीप नहीं पहुँचूँगा तब तक के लिए मांस का त्याग करता हूँ। प्रतिज्ञा लेकर वह आया और रस्सी बुनते हुए जब मद्य की खूँटी के समीप पहुँचा तब मदिरा पान कर ली उस मदिरा में चील द्वारा ले जाते हुए सर्प के मुख से विष की बूँद गिर चुकी थी, अतः वह चाण्डाल मरण को प्राप्त हो गया। उस समय उसे मांस खाने का त्याग था अतः वह स्वर्ग में जाकर उत्पन्न हुआ। अल्प समय को किये हुए मांस के त्याग से एक चाण्डाल स्वर्ग का भाजन बना इसलिए सुख की इच्छा रखने वाले प्रत्येक जीवों को आजन्म मांस का त्याग करना चाहिए।

वेश्या व्यसनः—

वेश्या अर्थात् बाजार की स्त्री से रमण करने की इच्छा करना, उसके यहाँ आना जाना, उससे अतिशय प्रीति रखना, उनके नृत्य आदि देखने में अत्यन्त आसक्ति रखना वेश्या व्यसन कहलाता है, इस व्यसन के व्यसनी को चोरी आदि अन्य समस्त पापों में फंसना पड़ता है, जिससे इस लोक में निन्दा आदि के दुःख तथा परलोक में दुर्गतियों के अनेकों भयंकर दुःखों को भोगते हैं। वेश्या व्यसन में फंसे हुए चारुदत्त को कितने कष्ट उठाने पड़े ? उनकी कथा पढ़ कर इसे शिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

चम्पापुरी में राजा [illegible] के राज्य में [illegible]

नामका एक पुत्र था, जिसका विवाह उनके मामा की लड़की मित्र-वती के साथ हुआ था। विद्या-अध्ययन में संलग्न रहने के कारण चारुदत्त विवाह के रहस्य को नहीं समझता था, इससे उसकी मां अत्यन्त चिन्तित रहती थी। एक दिन सुभद्रा सेठानी ने अपने देवर रुद्रदत्त से अपनी दुःख कथा कही। रुद्रदत्त चारुदत्त को येन केन प्रकारेण वेश्या के यहाँ ले जाने लगा, फल स्वरूप चारुदत्त का मन वसन्तसेना नामक वेश्या में इस प्रकार आसक्त हो गया कि बारह वर्ष पर्यन्त उसने गृह की सुध नहीं ली। १२ वर्ष में जब घर का समस्त धन समाप्त हो गया और चारुदत्त की स्त्री के जेवर वेश्या के घर आने लगे तब वसन्तसेना की मां ने अपनी लड़की से चारु-दत्त का परित्याग करने को कहा किन्तु मोह वश वसन्तसेना माता की आज्ञा का पालन नहीं कर सकी, तब उसने छल से चारुदत्त को संडास में पटक दिया।

साक्षात नरकावास सदृश उस ग्लानि युक्त स्थान से जिस किसी प्रकार निकल कर चारुदत्त घर आये तथा घर की निर्धन दशा देख अत्यन्त दुःखी हुए और चाचा के साथ धनार्जन हेतु द्वीपान्तरों को प्रस्थान कर गये। वहाँ सात बार विपुल धनराशि कमाई किन्तु सातों बार समुद्र में जहाज फट जाने से निर्धन अव-स्था को प्राप्त हुये। रस के लोभ में फँसे हुये एक सन्यासी द्वारा कूप में पटक दिये गये। वहाँ एक मरणासन्न व्यक्ति को समाधि-मरण करा कर गोह की पूंछ पकड़ कर बाहर निकले। जंगल में भटकते हुए चाचा रुद्रदत्त से भेंट हुई। चाचा द्वारा मारे हुये

की भावना से ले लेना या लेकर किसी दूसरों को दे देना चोरी कहलाती है। परधन ग्रहण करने की इच्छा मात्र से अपने अन्तःकरण में तो अग्नि ज्वाला के सदृश सन्ताप होता है, और जिसका धन हरण किया जाता है, वह मरणासन्न स्थिति को प्राप्त हो जाता है क्योंकि धन मनुष्यों का ग्यारहवाँ प्राण कहलाता है। इस प्रकार चोरी करने वाले को द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा दोनों का पाप लगता है, जिससे उसे नरकादि के दुःख भोगने पड़ते हैं।

कौसाम्बी नगरी में राजा सिंहरथ अपनी रानी विजया के साथ रहते थे। उस नगर में चोर व्यसन में आसक्त एक मनुष्य साधु वेष में रहता था। वह बड़ के वृक्ष की डाल से सींका बांधकर उसमें बैठा रहता था और आने वाले भक्त लोगों से कहा करता था कि दूसरों की वस्तु चुराना तो बहुत दूर की बात है, मैं जमीन का स्पर्श भी नहीं करता हूँ। दिन भर वह इसी स्थिति में रहता था किन्तु रात्रि को अपने कुटुम्ब के साथ नगर में जाकर चोरियाँ करता था, किन्तु कभी पकड़ा नहीं जाता था क्योंकि उसकी मीठी मीठी बातों के कारण लोगों का उस पर इतना विश्वास जम गया था कि किसी को उस पर सन्देह भी नहीं होता था। इस प्रकार शहर में चोरियाँ रोज होती थीं किन्तु चोर पकड़ में नहीं आता था।

एक दिन उस नगर में एक ऐसा ब्राह्मण आया जो निर्धनता एवं [illegible] आदि के विविध [illegible] फैलाने वाले कर्मों से [illegible] हुआ था। [illegible] होने से वह ब्राह्मण, [illegible] के आश्रम की ओर से

निकला और वहीं एक ओर बैठ गया। साधु के चेलों ने उसे हटाने की बहुत चेष्टा की किन्तु ब्राह्मण बोला-मैं अन्धा हूँ, रात को मुझे बिलकुल दिखाई नहीं देता, इसलिये रात्रि भर इस कोने में पड़ा रहूँगा और सवेरे उठ कर चला जाऊँगा। साधु ने सोचा-यह अंधा है। अतः हमारे कार्यों को नहीं देख पायगा, इसलिए एक ओर पड़ा है तो पड़ा रहने दो। अंधेरा होते ही तापसी सींके से उतरा, शहर में जाकर चोरी की और धन लाकर अपने गुप्त-कूप में डाल दिया। ब्राह्मण ने सर्व क्रिया देखी और प्रातः कोतवाल को समाचार दे दिये। वे सब पकड़े गये तथा तापसी को फाँसी की सजा मिली, वह खोटे भावों से मर कर नरक गया, और बहुत काल पर्यंत भयंकर दुःख भोगे। इसलिए जो प्राणी नरकादि गतियों के दुःखों से भयभीत हैं, और सुख की प्राप्ति करना चाहते हैं, उन्हें चोरी का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

परस्त्री सेवन व्यसनः—

धर्मानुकूल अपनी विवाहित स्त्री के सिवा अन्य स्त्रियों के साथ रमण करना परस्त्री सेवन कहलाता है। अपनी विवाहित स्त्री को छोड़ कर अन्य सभी स्त्रियाँ मां, बहिन और पुत्री के सदृश हैं, इसलिए परस्त्री सेवन करने वालों को मां, बहिन एवं बेटी के सेवन करने का पाप लगता है। परस्त्री सेवन करने वालों को राजा एवं समाज दण्ड देता है, लोक निन्दा होती है और परलोक में भी बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं।

रावण नाम का आठवाँ प्रति नारायण बीसवें मुनिसुव्रत नाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुआ था। रावण, राम की पट्टरानी सीता को मात्र हरण करके ले गया था, उसे भोगी नहीं थी फिर भी आज करोड़ों वर्षों बाद भी रावण की निन्दा हो रही है, और अभी भी रावण का जीव तीसरे नरक की असह्य वेदनाओं को भोग रहा है। रावण के कथानक से प्रत्येक परस्त्री सेवन की इच्छा वालों को शिक्षा ग्रहण करके जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर देना चाहिए।

सम्यग्दर्शन

जिस प्रकार किसान सर्व प्रथम अपने खेत की भूमि को भली प्रकार शुद्ध (कर्षण) करने के बाद धान्य बोता है उसी प्रकार जिसने अनादि काल से तीर्थंकर अर्हन्त देव, द्वादशांग रूप जिनवाणी अहिंसामयी धर्म का पालन करने वाले निर्ग्रंथ साधु और मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत अर्थात् प्रयोजनभूत जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप सात तत्वों का श्रद्धान नहीं किया अपितु अनन्त धर्म स्वभाव वाली वस्तु को मात्र एक ही धर्म रूप मान कर एकान्त मिथ्यात्व का, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है या नहीं इस संशय में झूलते हुये संशय मिथ्यात्व का, सच्चे देव सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु और अहिंसामयी धर्म का स्वरूप यथार्थ न जानने से अज्ञान मिथ्यात्व का, खोटे देव, खोटे शास्त्र, खोटे [illegible]

समुद्र से पार उतारने के लिये खेवटिया के समान कहा है। जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्षों की न उत्पत्ति होती है, न स्थिति एवं वृद्धि होती है और न उसमें फल ही लग सकते हैं, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट नहीं होता। पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा ज्ञान में एवं अनुभव में नहीं आता, संवर पूर्वक कर्मों की निर्जरा नहीं हो पाती और न उसमें मोक्ष रूपी फल ही लग पाता है, इसलिए सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का जो मूल कारण है भगवान जिनेन्द्र देव की भक्ति, उसे सच्चे हृदय से करना चाहिये। श्री वादि राज मुनिराज एकीभाव स्तोत्र में कहते हैं कि—उत्तम ज्ञान तथा निरतिचार चारित्र पालन करने वाले के पास भी यदि वीतरागी देव, जिनोपदिष्ट शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरुओं के प्रति यथार्थ भक्ति रूपी चाबी नहीं है तो भला मोक्ष रूपी दरवाजे पर लगे मोह रूपी ताले को खोलने में कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

संसार में सम्यग्दर्शन से बढ़ कर जीवों का अन्य कोई मित्र नहीं है। सम्यग्दर्शन होते ही अनन्त संसार सांत हो जाता है अर्थात् अति अल्प रह जाता है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव को इन्द्र अहमिन्द्र, चक्रवर्ती एवं बलभद्र आदि के वैभव की प्राप्ति हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही देव की पूजा करते हैं। यथा:—

लाट देश के गलगोद्रह नाम के शहर में नागदत्त सेठ के पुत्र रुद्रदत्त का विवाह उसी नगर के जिनदत्त सेठ

स्वीकार करना पड़ेगा। रुद्रदत्त ने जिनमति की बात मान ली और कुछ प्रमुख सज्जनों को गवाह बना कर अपने समस्त इष्ट देवों को अर्घ देकर भक्ति भाव से उनकी पूजा मान्यता का तथा अनेक प्रकार से अग्नि शांत करने की प्रार्थना की, किन्तु अग्नि जिस भयंकरता से जल रही थी उसी प्रकार जलती रही।

अब धर्मवत्सला सम्यग्दृष्टि जिनमति की बारी आई। उसने अपने सम्यक्त्व के बल पर बड़ी भक्ति से पंचपरमेष्ठियों के पावन चरण कमलों को अपने हृदय में विराजमान कर उन्हें अर्घ चढ़ाया, इसके बाद समस्त कुटुम्ब वर्ग को समीप बैठा कर आप कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा पंच नमस्कार मन्त्र का चिन्तन करने लगी। उसकी इस अचल श्रद्धा और भक्ति को देख कर शासन देवता अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उसी समय आकर उस भयंकर आग को एक ही क्षण में शान्त कर दिया। जिनधर्म के इस अतिशय को देख कर रुद्रदत्त आदि को अत्यन्त आश्चर्य हुआ एवं विश्वास हो गया कि जैनधर्म ही सच्चा धर्म है, उसी समय अनेक श्रावकों ने तथा सकुटुम्ब रुद्रदत्त ने सच्चे हृदय से जैन धर्म स्वीकार कर लिया। जिनमति के हृदय की पवित्रता एवं सम्यक्त्व की दृढ़ता को देख कर स्वर्ग के देवों ने दिव्य वस्त्राभूषणों से उसका बहुत आदर सम्मान किया। इसलिए प्रत्येक भव्यजनों को स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाले तथा संसार का हित करने वाले सम्यग्दर्शन रूप रत्न से अपने हृदय को विभूषित करना चाहिए।

देव पूजाः—

जिनागम में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी को देव संज्ञा कही गई है, इन वीतराग देवों की अष्ट द्रव्यों द्वारा पूजा करना देव पूजा कहलाती है ।

देव पूजा करने के लिए गृहस्थ को सर्व प्रथम स्नान करना चाहिए क्योंकि गृहस्थों को बिना स्नान किये पूजा करने का अधिकार नहीं है । जिस प्रकार खोटे और अशुभ परिणामों के त्याग से चित्त की शुद्धि होती है वैसे ही विधि पूर्वक स्नान करने से बहिरङ्ग शुद्धि होती है । यदि किसी कारण वश या शरीर की अस्वस्थता आदि के कारण स्नान न कर सके तो किसी सहधर्मी भाइयों को स्नान करा कर पूजन करावे किन्तु नोकर चाकरों से जिनेन्द्र भगवान की पूजन नहीं कराना चाहिए ।

स्नान पांच प्रकार का होता है:—

पैरों तक, घुटनों तक, कमर तक, गर्दन तक और शिर तक । इनमें से जो ब्रह्मचारी हैं तथा सब प्रकार के आरम्भों (कृषि व्यापार आदि) के त्यागी हैं वे इन पांचों में से कोई भी एक स्नान करके पूजन कर सकते हैं, जो ब्रह्मचारी हैं किन्तु आरम्भ क्रियाएँ करते हैं, वे कण्ठ पर्यन्त स्नान तथा जो ब्रह्मचारी भी नहीं हैं, वे शिर पर्यन्त स्नान करके ही पूजन कर सकते हैं ।

स्नान करने के बाद [illegible] के [illegible], [illegible] प्रकार [illegible] धारण करके, [illegible] कर, मौन व्रत धारण कर, सिर पर [illegible] और [illegible] अन्य मनुष्यों को स्पर्श न करते हुए,

पुराकर्म—

अभिषेक भूमि की शुद्धि करके पीठ के चारों कोणों पर मूंगा एवं मोती आदि की मालाओं से युक्त चार कलश स्थापित करना पुराकर्म है।

स्थापन—

पीठ के मध्य में चन्दन, केसर व अक्षतों से श्रीं ह्रीं लिख कर विधि पूर्वक जिनेन्द्र देव को स्थापित कर आरती उतारना स्थापना कर्म है।

संनिधापन—

यह जिनबिम्ब ही साक्षात जिनेन्द्र देव हैं, यह पीठ सुमेरु पर्वत है, जल पूर्ण ये कलश क्षीर सागर के जल से पूर्ण कलश हैं और मैं साक्षात इन्द्र हूं जो इस समय अभिषेक करने के लिए उद्यत हुआ हूं—ऐसा विचार करना संनिधापन है।

पूजा—

संनिधापन के बाद अभिषेक पाठ में कही हुई विधि के अनुसार शान्तिधारा पूर्वक अभिषेक करें। अनन्तर पूजन के लिए थाली में स्वस्तिक बना कर उसके ऊपर पंचपरमेष्ठी का सूचक ५ का अंक, दाईं ओर तीर्थंकरों का सूचक २४ का अंक, नीचे रत्नत्रय का सूचक ३ का अंक और बाईं ओर चारण ऋद्धि धारक मुनिराजों का सूचक २ का अंक लिखें। पुनः उपरिम भाग में बनी हुई मुट्ठी से पंचपरमेष्ठी के पांच पुंज, उसके ऊपर चार अनुयोगों

के चार पुञ्ज और इनके ऊपर रत्नत्रय के तीन पुञ्ज रखना चाहिए, तत्पश्चात् जिनवाणी संग्रह आदि में छपी हुई पूजन करना चाहिए। विशेष इतना है कि प्रत्येक पूजन में झारी से जलधारा छोड़ते हुये जल चढ़ाना चाहिए। अनामिका अंगुली से चन्दन, बंधी हुई मुट्ठी से अक्षत, दोनों हाथों से पुष्प, रकेवी से नैवेद्य, अग्नि में धूप, रकेवी से फल और रकेवी से ही अर्घ चढ़ावें।

पूजन करने के बाद ॐ, सिद्ध, अरिहन्त, ॐ ह्रीं नमः, असिआउसा, अरिहन्तसिद्ध, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ सिद्धाय नमः एवं णमोकार आदि किसी एकमन्त्र की एक माला फेरना चाहिए। अर्थात् १०८ बार जाप करना चाहिये। इसके बाद भगवान जिनेन्द्र देव को आरती करके शान्ति पाठ और विसर्जन करना चाहिये।

पूजाफलः—

पूजन के फल स्वरूप भक्त यह चाहता है कि हे जिनेन्द्र! जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त नहीं होता तब तक आपके चरणों में मेरी भक्ति रहे, समस्त प्राणियों में मेरा मैत्री भाव रहे, मेरी बुद्धि दान एवं अतिथि सत्कार में संलग्न रहे, मन आत्मतत्त्व में लीन रहे, विद्वानों के प्रति प्रेम एवं परोपकार में चित्तवृत्ति संलग्न रहे।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहस्थ पुष्कलावती देश के अन्तर्गत पुण्डरीकिणी नगरी में यशोधर नामक तीर्थंकर कुमार राजा थे। किसी वैराग्य का निमित्त पाकर उन्हें संसार से विरक्ति हो गई, तब उन्होंने वज्रदन्त नामक पुत्र को राज्य देकर दीक्षा धारण

करली। उस समय देवों ने आकर उनका दीक्षा कल्याणक मनाया था। एक दिन राजा वज्रदन्त राज दरबार में विराजमान थे, तब वहाँ ध्वजा युक्त दो पुरुषों ने आकर सूचना दी कि–हे देव! यशोधर भट्टारक को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है और आयुध शाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है। यह सुन कर राजा ने उन्हें बहुत सा पारितोषिक दिया तथा समस्त सभासदों के साथ सर्व प्रथम समवसरण में गया और वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपूर्व भक्तिभाव से भगवान जिनेन्द्र देव की पूजन की। सच्चे हृदय से की हुई उस पूजन से परिणामों में अतिशय निर्मलता आई, जिससे सातिशय पुण्य संचय हुआ और उसी पुण्य प्रताप के कारण उसी समय उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई, तत्पश्चात् राजा वज्रदन्त छह खण्डों को जीत कर चक्रवर्ती पद को प्राप्त हुए और सुख पूर्वक राज्य करने लगे।

अनेक प्रकार के वैभव से युक्त और व्रत रहित चक्रवर्ती भक्ति भाव से केवल एक बार जिनेन्द्र देव की पूजन के प्रसाद से अवधिज्ञानी हो गये, इसलिये प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन भगवान जिनेन्द्र की पूजन करना चाहिये क्योंकि निश्चल भाव से की हुई भगवान जिनेन्द्र देव की पूजन करने वाले पुरुषों के समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं तथा जहाँ भी जिनेन्द्र देव के भक्त जाते हैं वहीं उन्हें समस्त सुख सुविधाएँ प्राप्त होती रहती हैं।

गुरु उपासना—

देव पूजन के बाद मोक्ष मार्ग के साधक निर्ग्रन्थ गुरुओं

आचार्य, उपाध्याय, साधु, आर्यिकाएं, ऐलक, क्षुल्लक आदि)
के समीप जाकर, उन्हें अक्षत या फल आदि चढ़ा कर यथा योग्य
नमोस्तु, वन्दामि आदि करके भक्ति पूर्वक उनकी स्तुति एवं
पूजन आदि करना चाहिए। धर्मोपदेश सुनना चाहिए। दिगम्बर
मुनिमार्ग खड्ग की धार पर चलने के सदृश कठिन है, उसे धारण
करने का साहस विरले ही मनुष्य करते हैं, इसलिए आहार दान
तथा वैयावृत्य आदि के द्वारा उनके धर्म मार्ग की अनुकूलताओं
एवं सुख सुविधाओं का ध्यान रखते हुये उस मार्ग में उन्हें उत्साहित
करते रहना चाहिए। जिन धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये
रखने के लिए नवीन मुनियों को पैदा करने का तथा जो साधु
वर्तमान में अवस्थित हैं उनके गुणों का उत्कर्ष करने के लिए निरं-
तर प्रयत्न शील रहना चाहिए।

छल, कपट, मायाचारी एवं स्वार्थ मनोवृत्ति से रहित तथा
उनके अनुरूप प्रवृत्ति युक्त गुरु की विनय एवं वैयावृत्य करना
चाहिये। गुरु के सन्मुख आते समय उठ कर खड़े होना, हाथ जोड़
कर नमस्कार करना, उनके पीछे गमन करना, गुरु के प्रति उनके
अनुरूप हित, मित, प्रिय और नम्रता युक्त वचन बोलना तथा
अपने मनमें गुरुओं के प्रति निरन्तर शुभ भावनाएँ रखना चाहिए।
इस प्रकार जो गृहस्थ मन, वचन और काय से भक्ति पूर्वक उपासना
करते हैं, नाना प्रकार से सेवा एवं आराधना करते हैं, उनके समीप
नहीं आ पाते जिस प्रकार गरुड़

कलिकाल के प्रभाव से कितने ही श्रावक साधुओं की उपासना, वैयावृत्त्य और आहार दान आदि के प्रति उत्साह नहीं रखते अपितु वैयावृत्त्य आदि में तत्पर अन्य उत्साही श्रावकों को भी टीका-टिप्पणी के द्वारा अनुत्साहित कर देते हैं, उनके प्रति पं. आशाधर जी सागारधर्मामृत में कहते हैं कि इस कलिकाल में जैसे साक्षात् भगवान् जिनेन्द्र के दर्शन नहीं होते फिर भी हम सब धातु, पाषाण आदि से निर्मित प्रतिमाओं में जिनेन्द्र की स्थापना करके पूजा भक्ति आदि करते हैं। आधुनिक मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से पूर्व मुनिराजों के सदृश नहीं मिलते फिर भी आगमानुसार प्रवृत्ति करने वाले खद्योतवत् कुछ साधु तो न्यूनाधिक योग्यता वाले मिलते ही हैं और इस कलिकाल में जहाँ चित्तवृत्ति चलायमान रहती है, शरीर अन्न का कीड़ा है, शरीर का संहनन हीन है वहाँ नग्नरूपधारी ऐसे मुनिराजों का मिलना भी महान आश्चर्य है। जिस प्रकार छोटे बड़े खम्भों के आधार ही मकान की अवस्थिति रहती है, उसी प्रकार न्यूनाधिक योग्यता युक्त जीवों के ऊपर ही लोक की स्थिति निर्भर है। सत् का सर्वथा अभाव नहीं होता। प्रतिशत का अन्तर पड़ सकता है। चतुर्थ काल

निर्मित जिनबिम्ब पूर्व जिनेन्द्रों की स्थापना से पूज्य हैं, वैसे ही पूर्व मुनियों की स्थापना से आधुनिक मुनि भी पूज्य हैं। ऐसा श्रद्धान कर साधुओं के प्रति अपने परिणाम दूषित नहीं करना चाहिए। कारण अप्रशस्त और दूषित परिणामों से अशुभ कर्म का बंध होता है जो दुर्गति का कारण है। साधु की गति साधु जाने। बुद्धिमानों को तो उन्हें स्थापना निक्षेप द्वारा साक्षात् चतुर्थ कालीन साधुओं की बुद्धि से उपासना एवं वैयावृत्य आदि करते हुए पंच सूना (पीसना, कूटना, चौका चूल्हा, पानी परण्डा, झाडू लगाना) से उत्पन्न होने वाले पापों का प्रक्षालन और परम्परा मोक्ष के साधनभूत पुण्य कर्म का संचय करते रहना चाहिए।

प्रथमानुयोग में मुनिराजों को आहार दान के एवं आहार दान की अनुमोदना के फल की अनेकों कथाएँ आती हैं। उसी प्रकार एक मूर्ख ग्वाले का बालक कैसे सेठ सुदर्शन बना और कर्म काट कर मोक्ष गया उसकी कथा निम्न प्रकार है।

भरतक्षेत्र के अंगदेशस्थ चम्पापुरी नगरी में धात्रीवाहन राजा राज्य करता था। उसकी अभयमती नाम की रानी थी। उसी नगर में वृषभदास सेठ जिनमति सेठानी के साथ सुख पूर्वक निवास करता था। उस सेठ के यहाँ सुभग नाम का ग्वाला था, जो सेठ की गायें भैंसे चराया करता था। एक दिन सुभग जंगल से गायें लेकर घर वापिस लौट रहा था, मार्ग में सूर्यास्त के समय उसने एक मुनिराज को ध्यानारूढ़ विराजमान देखा। उस समय भयंकर शीत पड़ रही थी, इसलिए उसने सोचा कि आज इस

भीषण शीत में इनका क्या होगा ? और रात्रि कैसे व्यतीत होगी? इन्हें कितना कष्ट होगा ? किस उपाय से इनका शीत निवारण करूँ ? इस प्रकार के विचार करते हुये वह घर आया और कुछ ईंधन तथा आग लेकर मुनिराज के पास पहुँच गया और आग जला जला कर रात्रि भर वहीं रहा तथा मुनिराज की शीत वेदना दूर करता रहा। प्रातः सूर्योदय होने पर मुनिराज ने मौन विसर्जन किया और उस ग्वाले को अत्यन्त निकट भव्य जान कर उपदेश दिया कि हे भव्य ! तू उठते, बैठते, चलते, फिरते निरन्तर णमो अरिहन्ताणं मन्त्र का उच्चारण किया कर। इतना कह कर मुनिराज स्वयं णमो अरिहन्ताणं बोलते हुए आकाश मार्ग से विहार कर गये। यह देख ग्वाले को मन्त्र पर अत्यन्त दृढ़ श्रद्धा हो गई और वह प्रत्येक क्रियाओं के पहिले णमोकार मन्त्र का उच्चारण करने लगा।

एक दिन सुभग ग्वाला गायें चराने जंगल गया था और वहीं एक वृक्ष के नीचे सो गया। इतने में किसी ने आकर कहा कि तेरी गायें गंगा के पार उतर गयीं हैं और तू यहां सो रहा है ? यह सुन वह तत्काल उठा और गंगा में कूद पड़ा। कूदते ही एक तीक्ष्ण काष्ठ से उसका पेट फट गया, उस समय महामन्त्र का उच्चारण करते हुये उसने निदान कर लिया कि मैं वृषभदास सेठ के पुत्र उत्पन्न होऊं। प्राण छोड़ कर निदान के अनुसार वह वृषभ सेठ की सेठानी जिनमति के गर्भ में आया। पीछे नौ मास पूर्ण होने पर सेठ [illegible] को पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सुदर्शन

रक्खा गया। सुदर्शन सेठ ने इन्द्रियजन्य अनुपम सुख भोग कर और मुनिव्रत धारण कर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लिया।

आचार्यों ने नव देवताओं के पूजन का निर्देश किया है, इसमें देवपूजा में अरहन्त सिद्ध का तथा गुरु-उपासना में आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी का अन्तर्भाव हो जाता है। शेष जिन चैत्य, जिन चैत्यालय, जिनधर्म और जिनवाणी की पूजन करना भी आवश्यक है।

जिन चैत्यः—

जिनेन्द्र की प्रतिमा को ही जिन चैत्य कहते हैं किन्तु जब इसे अलग गिनाया है तब ऐसा अनुभव होता है कि देव पूजा में इसका अन्तर्भाव शायद नहीं होता होगा। निछावर देकर जिन बिम्बों का निर्माण कराना, उनकी पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ कराना, भगवान की पूजन के निमित्त खेत, मकान, बाग बगीचा आदि लगा देना तथा इन्द्रध्वज, महामह एवं अन्य नैमित्तिक बड़ी बड़ी पूजन करना, जिन चैत्य पूजन कहलाती है।

जिन चैत्यालयः—

जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर को जिन चैत्यालय कहते हैं। नवीन जिन मन्दिरों का निर्माण कराना पुराने एवं जीर्ण शीर्ण मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराना, जीर्णोद्धार हेतु खेत, मकान आदि सम्पत्ति लगा देना, जीर्णोद्धार आदि की स्वयं शक्ति न हो तो दूसरों को प्रेरणा देकर उसके लिए उत्साहित करना। सिद्धक्षेत्र एवं अतिशय क्षेत्रों का उद्धार करना। मन्दिरों को प्रतिवर्ष चूना

आदि पदार्थों से श्वेत-स्वच्छ कराना, मन्दिरों की सम्हाल कराना। मन्दिरों की दीवालों पर अनेक प्रकार के वैराग्य प्रदर्शक भावों की चित्रकारी कराना, पच्चीकारी आदि करा कर मन्दिरों को सुशोभित करना। मन्दिर प्रतिष्ठाएँ एवं वेदी प्रतिष्ठाएँ कराना ही जिन चैत्यालय पूजन है।

जिनधर्म:—

जैन धर्म के तत्त्व एवं सिद्धान्तों का प्रसार और प्रचार करना, अनेक प्रकार के पूजन, विधान तथा दानादि के द्वारा धर्म की प्रभावना करना, नित्य नये महोत्सवों आदि के द्वारा धर्म को जाग्रत रखना, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का पालन करना, रत्नत्रय धर्म का आचरण करना, तथा धर्म के अनुरूप अनुसरण तथा अनुगरण करना, दया, क्षमा, अहिंसा आदि के माध्यम से जैनधर्म को वृद्धिगत करना तथा और भी अन्य धर्म वृद्धि के कार्य करना ही जिनधर्म पूजन है।

जिनवाणी:—

स्वाध्याय। क्योंकि इस निःकृष्ट काल में मन रूपी बन्दर को वश में करने के लिए, इन्द्रिय रूपी मछलियों को बांधने के लिए, कषाय रूपी भूत को कीलित करने के लिये, प्रमाद (आलस्य) रूपी निद्रा को भगाने के लिये, अशान्ति रूपी राक्षसी को प्रताड़ित करने के लिये, विषय वासना रूपी जंगल को जलाने के लिये, मोह रूपी पाश (जाल) को काटने के लिए तथा मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नाश करने के लिये भगवान जिनेन्द्र देव की विशुद्ध वाणी के अवलम्बन रूप आधार के बिना अन्य कोई चिकित्सा नहीं, उपाय नहीं और अशस्त्र शस्त्र नहीं है, इसलिए प्रत्येक मानव को प्रतिदिन नियमित रूप से घण्टे, आध घण्टे स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। आचार्यों ने साधुओं के लिये भी स्वाध्याय को सबसे बड़ा तप कहा है क्योंकि बुद्धि का फल आत्महित है और आत्महित स्वाध्याय से होता है।

तीन खण्ड श्लोकों का स्वाध्याय करने वाले यम मुनिराज दिव्य ज्ञान से विभूषित हो गये थे।

उड्देश के अन्तर्गत धर्म नाम के नगर में राजा यम रहते थे। वे बहुत बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ थे। उनके [illegible] एक पुत्र और कोणिका नाम की एक कन्या थी। राजा के प्रधान मन्त्री का नाम दीर्घ था।

एक दिन राजधानी में विशिष्ट ज्ञान के धारी सुधर्माचार्य पांच सौ मुनियों के साथ पधारे। मुझ से अधिक ज्ञानी और कौन है, इस प्रकार के गर्व और ईर्ष्या भाव से युक्त होता हुआ राजा

मन्त्री और अपने पुत्रों के साथ उद्यान में गया। किन्तु अपने दूषित परिणामों के फल स्वरूप मार्ग में ही उसका सम्पूर्ण ज्ञान नष्ट हो गया उसने बड़े पुत्र गर्दभ को राज्य देकर पाँच सौ पुत्रों के साथ दीक्षा ले ली। किन्तु समस्त ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण उन्होंने संघ में रहना उचित नहीं समझा और गुरु से आज्ञा लेकर तीर्थ-यात्रा के लिए विहार कर दिया। महाराज श्री एक वृक्ष के नीचे बैठे हुये थे, कुछ बालक वहीं गेंद खेल रहे थे, उनकी गेंद उछल कर एक गढे में गिर गई, बालक उसे चारों ओर खोजने लगे, यह देख महाराज श्री के ज्ञानावरण कर्म का कुछ क्षयोपशम हुआ और उन्होंने एक खण्ड श्लोक बनाते हुए कहा कि रे बाल! इतस्ततः किं पश्यसि ? तव कोणिका तव समीपे गर्तेऽस्ति" अर्थात् रे बालक (मूर्ख मन) तू इधर उधर क्या देख रहा है तेरी कोणिका (गेंद या सुख) तेरे पास वाले गढे में ही है।

किसी अन्य दिन मुनिराज तालब के किनारे से जा रहे थे। एक मेंढक महाराज श्री को देख कर भयभीत हो गया, उस मेंढक के पीछे भयानक काला सर्प बैठा था, यह दृश्य देखकर मुनिराज ने एक खण्ड श्लोक और बना लिया कि "अह्मादो णत्थि भयं, भयं तु पच्छादो" अर्थात् तू मेरे से भय मत कर, अपने पीछे वाले से भय कर।

इसी प्रकार एक दिन महाराज श्री विहार करते जा रहे थे, रास्ते में एक मनुष्य किसी खेत में से गधे को लेकर जा रहा था, गधा हरे भरे खेत को देख कर मुख डाल रहा था। मुनिराज ने [illegible] श्लोक और बना [illegible]

"रे गर्दभ ! खादिष्यसि तर्हि पश्चात्तापो भविष्यति" अर्थात् रे गर्दभ ! यदि खायेगा तो पश्चात्ताप होगा। महाराज श्री प्रतिदिन इन तीनों चरणों का चिन्तन और मनन पूर्वक स्वाध्याय करते थे। विहार करते हुये मुनिराज किसी एक दिन अपने नगर में पहुँच गये।

वहाँ गर्दभ राजा का राजमन्त्री दीर्घ राजा को मार कर राज्य पर अधिकार करना चाहता था, उसने मुनिराज को बगीचे में बैठा देख लिया था, इससे उसने जाकर राजा से कहा कि तुम्हारे पिता राज्य वापिस लेने के लिये आये हैं सो आज रात्रि को ही उन्हें मार डालना चाहिये। ऐसा विचार कर वे दोनों रात्रि को तलवार लेकर बगीचे में गये। राजा गर्दभ तलवार खींच कर मुनिराज के पीछे खड़ा हो गया और मन्त्री राजा को मारने के उद्देश्य से राजा के पीछे (तलवार खींच कर) खड़ा हो गया। उसी समय मुनिराज ने अपने स्वाध्याय का प्रथम चरण पढ़ा। उसे सुन कर राजा सोचने लगा कि ये मेरा राज्य लेने नहीं आये अपितु मेरी बहिन कोणिका का पता बताने आये हैं कि हे बालक तू यहाँ वहाँ मत खोज, तेरी बहिन (कोणिका) तेरे पास वाले तलघर में है। इसके बाद ही मुनिराज ने दूसरा चरण पढ़ा, जिसे सुन कर राजा बहुत घबड़ा गया कि महाराज मेरा अभिप्राय जान गये हैं इसीलिये कह रहे हैं कि—रे गर्दभ ! (तुम) यदि तू मुझे मारेगा तो पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसके बाद ही मुनिराज ने तीसरे चरण का उच्चारण किया, कि रे

मुझ से भय मत कर अपने पीछे वाले से भय कर। इतना सुनते ही राजा ने पीछे मुड़ कर देखा तो मन्त्री उसे मारने को तलवार उठाये खड़ा था। मुनिराज का तीसरा चरण सुन कर मन्त्री भी घबड़ा गया और उन दोनों ने अपने अपने अपराधों की क्षमा याचना की तथा राज्य वैभव के प्रति ग्लानि एवं वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण दीक्षा धारण कर ली।

महाराज श्री भी उन तीनों खण्ड श्लोकों का स्वाध्याय करते हुये तथा उन्हीं श्लोकों का मनन चिन्तन करते हुये सप्त ऋद्धियों को प्राप्त हुये। इसलिये प्रत्येक भाई-वहिनों को निरन्तर मनन-चिन्तन पूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए।

संयमः—

बढ़ती हुई इच्छाओं पर नियन्त्रण करना और हिंसादि पांच पापों से विरक्त होना संयम कहलाता है। इन्द्रिय संयम एवं प्राणिसंयम के भेद से संयम दो प्रकार का होता है। श्रावकों को अपनी शक्ति अनुसार पांचों इन्द्रियों और मन के प्रसार को रोकना तथा त्रस जीवों की दया करते हुये विना प्रयोजन स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार विना लगाम के घोड़ा स्वच्छन्दचारी होकर अपने सवार को यत्र तत्र गड्ढों आदि में पटक देता है, उसी प्रकार संयम के विना मनुष्य जीवन भी स्वच्छन्द हो जाता है, जिससे वह पांचों पापों में निरन्तर प्रवृत्ति करते हुए नरक-तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जाकर सागरों पर्यन्त दुःख भोगता है। स्वच्छन्दचारी होना संसार का मार्ग है और संयम धारण करना मोक्ष का मार्ग है।

वत्स देश के अन्तर्गत कौशाम्वी नगरी के अतिवल राजा के पुरोहित का नाम सोमशर्मा ब्राह्मण था, उसके अग्निभूत, वायुभूति नाम के दो पुत्र थे। लाड़ प्यार के कारण वे विद्या-अध्ययन नहीं कर सके इसलिये पिता की मृत्यु के वाद उन्हें पुरोहित का पद नहीं मिला। इस मान हानि से उन्हें वहुत दुःख हुआ तव मां ने उन्हें समझाया कि राजगृह नगर के सुवल राजा का सूर्यमित्र नाम का पुरोहित है जो तुम्हारा मामा है तुम दोनों उनके पास विद्या अध्ययन करके अपना पद प्राप्त करो। वे दोनों भाई राजगृह नगरी गये और सूर्य मित्र को सर्व वृतान्त सुनाया। यदि मैं इन्हें भानजों के रूप में ग्रहण करूँगा तो ये विद्याग्रहण नहीं कर सकेंगे यह सोच कर सूर्यमित्र ने कह दिया कि मेरे कोई वहिन ही नहीं फिर भानजे कैसे ? हां यदि आप भिक्षावृत्ति से भोजन करके अध्ययन करना चाहते हैं तो मैं पढ़ा सकता हूँ उन्होंने स्वीकार किया और कुछ ही काल में जब वे सर्व विद्याओं में पारंगत हो गये तव सूर्यमित्र ने उन्हें अपने मामापने का सम्वन्ध प्रगट कर दिया जिससे वायुभूति को वहुत क्रोध उत्पन्न हो गया। कुछ निमित्त पाकर सूर्य मित्र और अग्निभूति ने दीक्षा ग्रहण करली। वायुभूति ने कारण पाकर (पूर्व क्रोध के संस्कार वश) सूर्यमित्र मुनिराज की वहुत निन्दा की जिससे सातवें दिन उदम्वर कुष्ठ हो गया। फिर वह मर कर गधी हुई, पश्चात् सूकरी हुई कुत्ती हुई उसके वाद नील चाण्डाल के यहाँ

सूर्यमित्र मुनिराज को उपवास था । आहार को जाते हुए अग्निभूत मुनिराज ने जामुन वृक्ष के नीचे बैठी हुई उसे देखा, इससे उनकी आंखों से आंसू निकल गये, तब विना आहार किये ही गुरु के पास जाकर उन्होंने समस्त समाचार कहा । उत्तर में गुरु ने चाण्डालनी का सारा समाचार सुनाया, सुन कर अग्नि-भूति मुनि वापिस आये, उस कन्या को पंच अणुव्रत देकर समाधि-मरण पूर्वक मरण कराया । वहाँ से मरण कर वह क्रूर परिणामी नागशर्मा ब्राह्मण के घर नागश्री नाम की कन्या हुई किसी एक दिन वह नागश्री अन्य ब्राह्मण कन्याओं के साथ नाग की पूजा को नगर के बाहर गई । वहाँ सूर्यमित्र और अग्निभूति नामक मुनिराजों को स्थित देख नागश्री ने निर्मल चित्त से उन्हें नमस्कार किया । धर्म का स्वरूप समझा कर मुनिराज ने उसे अणुव्रत रूप संयम ग्रहण कराते हुये उससे यह कह दिया कि यदि तेरा पिता व्रत छोड़ देने को कहे तो तू इन व्रतों को हमें वापिस दे देना । व्रत लेकर कन्या वापिस घर गई किन्तु व्रतों के समाचार सुन कर पिताजी का क्रोध भड़क उठा, उसने कन्या को डांटते हुए व्रत छोड़ने को बाध्य किया । तब कन्या बोली-हे तात ! मुनिराज ने कह दिया था कि यदि पिता व्रत छोड़ने का आग्रह करें तो तू हमारे व्रत हमें वापिस दे जाना । इतना सुनते ही पिता कन्या को साथ लेकर जंगल की ओर चल दिया । मार्ग में हिंसा झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह जन्य पांचों पापों के दृष्टान्त मिले जिसे देख कर नागशर्मा ने व्रत पालन की आज्ञा तो दे दी किन्तु मुनि के समीप जाकर बोला कि मेरी कन्या को आपने व्रत

क्यों दिये ? इत्यादि (इसके आगे का कथानक बहुत विस्तृत है, जो पुण्याश्रव कथाकोष से जानना चाहिये)। अन्त में नाग श्री ने दीक्षा ग्रहण कर बहुत काल तक तपश्चरण किया। अन्त में एक मास का सन्यास धारण कर शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग में पद्मनाभ नामक महर्द्धिक देव हुई। वहाँ से चय कर अवन्ति देश की उज्जयिनी नगरी के सुरेन्द्रदत्त सेठ और यशोभद्रा सेठानी के सुकुमार कुमार नाम का पुत्र हुआ, जो आयु के अन्त में मुनिव्रत धार सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुये तथा वहाँ से चय कर एक ही भव में मोक्ष प्राप्त कर लेंगे ।

इस प्रकार चाण्डालनी अवस्था में धारण किये हुये पंच अणुव्रतों के फल स्वरूप वायुभूति के जीव को तीसरे भव में मोक्ष हो जायगा ।

इस कथानक से शिक्षा ग्रहण कर प्रत्येक मानव को देश-संयम एवं संयम ग्रहण करना चाहिए ।

तपः—

मन, इन्द्रिय और शरीर के इष्ट तथा अनिष्ट विषयों के ग्रहण और अनिष्ट विषयों के छोड़ने की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं, और इच्छाओं को रोकने का नाम तप है, अर्थात् रत्नत्रय की प्रकटता के लिये इच्छाओं का निरोध करना तप कहलाता है। श्रावक धर्म में हमेशा मुनिव्रत धारण करने के भाव रहता है और मुनि धर्म तपश्चरण प्रधान है इसलिये श्रावक के रूप में अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्या-

सन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप तथा प्रायश्चित, विनय, वैया-वृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान रूप तपश्चरण करता हुआ गृहस्थ मुनिव्रत धारण करने का अभ्यास करता है। व्रत या उपवासों द्वारा जिनगुणसंपत्ति आदि व्रत करना भी तप में शामिल है।

कलिंग देश महावन में ताम्रकर्ण और श्वेतकर्ण नाम के दो हाथी थे, जो हथिनी के निमित्त परस्पर में लड़ कर मरे और चूहा एवं विलाव हुए, विलाव ने चूहे को मार डाला, पश्चात् मुर्गा और मत्स्य हुये, तत्पश्चात् दोनों मर कर कबूतर हुए। पश्चात् बिजली के निमित्त से मर कर हस्तिनापुर में सोमप्रभ राजा के रविस्वामी पुरोहित की स्त्री सोम श्री के सोमशर्मा और सोमदत्त नाम के युगल पुत्र हुए। इन दोनों की स्त्रियों के नाम सुकान्ता और लक्ष्मी था। पिता की मृत्यु के बाद छोटे पुत्र सोमदत्त को पुरोहित का पद प्राप्त हुआ। नष्ट बुद्धि सोमशर्मा सोमदत्त की पत्नि लक्ष्मीमति के साथ संभोग करता था इससे विरक्त होकर सोमदत्त ने दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर ली और उसका पद सोमशर्मा को प्राप्त हो गया। एक बार मगधदेश को प्रस्थान करते हुए राजा को सामने सोमदत्त मुनिराज के दर्शन हुये। राजा ने सोमशर्मा पुरोहित से पूछा कि दिगम्बर मुनि का शकुन कैसा होता है? पूर्व भवों के वैर के कारण पुरोहित बोला-स्वामिन्! दिगम्बर साधु का मिलना बहुत बड़ा अपशकुन है, अतः दशों दिशाओं को बलि देकर ही आगे जाना चाहिये। यह बात सुनते ही राजा ने अपने कर्ण बंद कर लिये कि हाय "यह बहुत पाप है" उसी समय

विश्वदेव शकुन शास्त्रज्ञ ने दिगम्बर साधु के दर्शन को शुभ बत-लाया और उसका फल भी राजा को उत्तम मिला, अतः राजा ने सोमशर्मा के स्थान पर विश्वदेव को पुरोहित बना दिया, जिससे सोमशर्मा को बहुत क्रोध आया और उसने मुनिराज सोमदत्त (अपने छोटे भाई) को मार डाला। इस प्रकार शरीर छोड़ कर सोमदत्त मुनिराज सर्वार्थसिद्धि गये और सोमशर्मा महान् कष्ट के साथ मर कर सातवें नरक गया। वहाँ से निकल कर स्वयम्भू-रमण समुद्र में महामत्स्य हुआ, वह भी मर कर छठवें नरक में गया। तत् पश्चात वह महावन में सिंह हुआ जो मर कर पांचवें नरक गया। वहाँ से निकल कर वह व्याघ्र हुआ और फिर मर कर चौथे नरक गया, तत्पश्चात् दृष्टि विष सर्प होकर तीसरे नरक गया। वहाँ से निकल भेरुण्ड पक्षी हुआ जो मर कर दूसरे नरक गया। तदनन्तर शूकर हुआ और मर कर पहिले नरक गया। वहाँ से निकल कर वह मगधदेश में सिंहपुर के राजा सिंहसेन और हेमप्रभा का पुत्र हुआ, जिसके शरीर से अति दुर्गन्ध निकलने के कारण उसका नाम अतिदुर्गन्धकुमार प्रसिद्ध हो गया।

एक समय उस नगर के समीप विमल वाहन केवली आये तब राजा आदि सभी उनकी वन्दना को गये। वहां अतिदुर्गंध कुमार भी गया जो असुरकुमार आदि के देवों को देख कर मूर्छित हो गया। यह देख राजा ने केवली से उसके मूर्छित होने का कारण पूछा। तदनुसार केवली ने उसके भवान्तरों की कथा सुनाते हुए कहा कि यह दुर्गन्धकुमार [illegible]

सताया गया है इसलिए उन्हें देख कर मूर्छित हो गया है। कुमार ने केवली भगवान से अपने कष्टों को दूर करने का उपाय पूछा। केवली ने उसे विधि विधान पूर्वक रोहणी व्रत का अनुष्ठान बतलाया। पूतिगन्धकुमार ने सात वर्ष पर्यन्त श्रद्धा पूर्वक उस व्रत का प्रतिपालन कर उद्यापन किया, जिसके प्रभाव से उसका दुर्गन्धमय शरीर सुगन्ध रूप में परिणत हो गया और तब से वह सुगन्धकुमार नाम से प्रसिद्ध हो गया। उसी समय राजा सिंहसेन सुगन्ध कुमार को राज्य दे, मुनि हो गये और तपश्चरण कर मोक्ष गये। सुगन्ध कुमार ने बहुत काल तक राज्य किया, पश्चात् दीक्षा ली और तपश्चरण कर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। इसके बाद अर्ककीर्ति चक्रवर्ती होगा पुनः स्वर्ग जायगा वहाँ से चय कर रोहणी का पति अशोक होगा जो अन्त में मुक्ति प्राप्त करेगा।

इस प्रकार मात्र सात वर्ष उपवास पूर्वक व्रत (तप) करने से उसी भव में तत्काल ही शरीर सुगन्धमय हो गया और राज्य पद की प्राप्ति हुई तथा परम्पराय मोक्ष प्राप्ति भी हो गई। इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को अपनी शक्ति के अनुसार कुछ न कुछ व्रत एवं तप आदि करते हुये मुनिव्रत धारण करने की भावना बनाते रहना चाहिए।

दानः—

अपने स्वयं के कल्याण के लिये और मुनि आदि सत्पात्रों के रत्नत्रय की वृद्धि के लिये धन आदि दिया जाता है, अथवा जो दाता एवं पात्र के उपकारार्थ दिया जाता है, उसे दान कहते

हैं जिस प्रकार रुधिर से लिप्त वस्त्र जल से साफ होता है, उसी प्रकार आरम्भ परिग्रह से उत्पन्न पाप दान से नष्ट होता है। आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान और अभय दान के भेद से दान चार प्रकार का होता है।

जिस प्रकार मेघों से बरसा हुआ जल उत्तम भूमि का आश्रय पाकर विशिष्ट फल दायक होता है, उसी प्रकार (१) दाता (२) पात्र (३) विधि और (४) द्रव्य की विशेषता से दान भी विशेष फलदायक होता है।

१. दाता:—

जो पात्र के सम्यग्दर्शनादि गुणों में अनुरागी होकर आहार, आवास, औषधि, शास्त्र, पिच्छिका एवं कमण्डलु आदि देता है उसे दाता कहते हैं। अर्थात् मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना रूप (३ × ३ =) नवकोटि से विशुद्ध दान देने वाले को दाता कहते हैं। वह दाता श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्त्व गुणों वाला होना चाहिए।

(१) श्रद्धा:—पात्र को जो दान दिया जा रहा है, उसके फल में प्रतीति रखने को श्रद्धा कहते हैं।

(२) भक्ति पात्र के गुणों में अनुराग होना भक्ति है।

(३) तुष्टि:—दान देते समय या दिये जाने पर आत्मा में आह्लाद होना तुष्टि है।

(४) विज्ञान:—दान में देने योग्य द्रव्य की एवं पात्र तथा [illegible] आदि की [illegible] का ज्ञान होना विज्ञान है। जैसे-शीत

ऋतु में आहार शीत कारक न हो, वसतिका, शीतल या हवादार न हो इत्यादि। तथा अनार, मोसम्वी आदि का रस पिला कर तुरन्त गर्म दूध नहीं देना। अत्यन्त गर्म पदार्थ हाथ पर नहीं रख देना। प्रकृति विरुद्ध पदार्थ नहीं देना इत्यादि।

(५) अलुब्धता:—दान देकर सांसारिक फलों की वांछा न करना। अथवा उदारता पूर्वक दान देना। लोभ नहीं करना।

(६) क्षमा:—दुर्निवार क्रोध के कारण उपस्थित हो जाने पर भी अपनी आत्मिक शान्ति भंग नहीं करना अर्थात् क्रोध नहीं करना क्षमा है।

(७) सत्व या शक्ति:—दाता के पास थोड़ा धन होते हुये भी दान देने में रुचि और उत्साह रखना। यथार्थ में "सत्व" मन का वह गुण है कि जिससे अल्प धन वाला भी दाता अपने मनोबल की शक्ति, उत्साह से एवं दानवृत्ति से बड़े बड़े धनाढ्यों को भी आश्चर्य में डाल देता है।

दाता की श्रद्धा व भक्ति से ही दान की कीमत आंकी [जा]ती है, न कि पात्र के लिए दिये जाने वाले द्रव्य की कीमत से। [अ]तः पात्र के लिए भक्ति पूर्वक दिया गया शाक-पात भी [दा]ता को प्रचुर फल दायक होता है, बिना भक्ति से दिया हुआ [मि]ष्टान्न-भोजन नहीं।

पात्रः—

जैसे जहाज अपने आश्रितों को समुद्र से पार कर देता है उसी प्रकार जो दान देने वालों को, दान दिलाने वालों को और दान की अनुमोदना करने वालों को संसार समुद्र से पार करने में आदर्श-समर्थ होता है, उसे पात्र कहते हैं। वे पात्र सत्पात्र, कुपात्र और अपात्र के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप गुणों के संयोग के भेद से सत्पात्र तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र।

उत्तम पात्रः—रत्नत्रयधारी नग्न दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं।

मध्यम पात्रः—आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका और देश-संयमी व्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं।

जघन्य पात्रः—व्रत रहित अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र हैं रत्नत्रय गुणविशिष्ट के संयोग से पात्र के ये तीन भेद हो जाते हैं किन्तु ये तीनों ही पात्र संसार समुद्र के तारक हैं।

कुपात्रः—रत्नत्रय से शून्य मिथ्या तप तपने वाले अपात्र हैं। इनको दिया हुआ दान उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज निरर्थक होता है। अर्थात् कुभोग भूमि मिल जाती है।

अपात्रः—सम्यक्त्व और व्रत रहित जीव अपात्र हैं। अपात्रों को दिया हुआ दान उसी प्रकार फल देता है, जैसे सांप को पिलाया हुआ दूध।

विधः—

नवधा भक्ति की विधि कहते हैं। प्रतिग्रह, उच्चासन, पादप्रक्षालन, पादपूजा, प्रणाम, मनशुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और आहार जल शुद्ध है, ये नव नवधाभक्ति कहलाती हैं।

प्रतिग्रह।—मुनि को अपने गृह के द्वार की ओर आते देख कर उन्हें आदर पूर्वक स्वीकार करते हुये हे स्वामिन्! नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु! अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ (तीन वार वोलना)।

उच्चासन:—प्रतिग्रह के बाद "गृह प्रवेश कीजिये" यह कह कर गृह के मध्य ले जा कर–हे स्वामिन्! उच्चासन ग्रहण कीजिए, अर्थात् ऊँचे आसन पर बैठाना।

पाद प्रक्षालन:—पात्र के चरण कमलों को प्रक्षालित करना।

पाद पूजा:—उनके चरण कमलों की अष्ट द्रव्य से पूजा करना।

प्रणाम:—पञ्चांग नमस्कार करना।

मनशुद्धि:—आर्त्त-रौद्र ध्यान एवं पात्र के प्रति अविनय, अश्रद्धा या किसी प्रकार की आकुलता आदि से रहित अवस्था को मनशुद्धि कहते हैं।

वचन शुद्धि:—परुष, कर्कश, गर्व युक्त, निन्दात्मक, क्रोध मिश्रित, अविनय सूचक, आकुलता एवं ईर्षा आदि से युक्त वचन नहीं बोलना वचन शुद्धि कहलाती है।

कायशुद्धि:—कुल, जाति एवं वंश परम्परा का शुद्ध होना, अथवा विवाह, विजातीय विवाह की उत्पत्ति नहीं होना, सुआ, सूतक जन्य अशुद्धि से रहित रजस्वला एवं श्वान आदि पशु तथा

कौए आदि पक्षियों से स्पर्शित वस्त्र युक्त नहीं होना, शरीर मल, मूत्र, वमन, पीव, राध, खून आदि के स्पर्श से रहित होना। शुद्ध, धुले हुये, अन्य लोगों से अस्पर्शित एवं धोती, दुपट्टा इन दो वस्त्रों से युक्त होना तथा दस्सा आदि नहीं होना काय शुद्धि कहलाती है। पड़गाहन के पूर्व यदि कोई विशिष्ट हिंसात्मक कार्य करके आया हो। मुर्दा जला कर या श्मशान भूमि जाकर आया हो, प्रसूति आदि करा कर आया हो। स्त्री सम्पर्क आदि करके आया हो, भोजन कर चुका हो। तथा भट्टी आदि का कार्य करते करते आया हो तो काय शुद्धि नहीं कहलाती। यद्यपि इन क्रियाओं के बाद स्नान कर चुका हो फिर भी प्रतिग्रह के कुछ क्षण पूर्व ही यदि ये क्रियाएँ हुई हैं तो पात्र दान के योग्य शुद्धि नहीं कहलाती।

अन्न जल शुद्धिः—आहार, विधे (घुने) या बिना शोधे, बिना धुले, अमर्यादित आटा, बेसन, नमक, मसाले से बना न हो। अदरक, आलू आदि कन्दमूल, साधारण वनस्पतियां फूल, कोपल, तुच्छ फल, अनाज फल या सब्जी से मिश्रित न हो। गैस, बिजली की अंगीठी, स्टोव, बत्ती वाले स्टोव तथा अन्य और भी वैज्ञानिक प्रयोग से बनाया हुआ न हो। अन्य और किसी प्रकार से सदोष न हो, विरूप या चलित रस वाला न हो, प्रकृति (शीत, उष्ण आदि ऋतु के) विरुद्ध न हो, विशेष रूप से जला या कच्चा न हो, रोग उत्पादक न हो, जूठा न हो, अशोधित, निन्द्य एवं दुर्जनों से लाया न हो, किसी को उद्देश्य करके न बनाया गया हो। बना हुआ भोजन किसी दूसरे ग्राम से, बाजार से, भिन्न धर्मी के घर से

या कर्ज में लाया न हो तो वह अन्न शुद्धि कहलाती है। तथा जल नल का, हैंडपम्प का, बंधे हुये तालाब का और टांकों का न हो, कुए का हो, खद्दर के दुहरे, गहरे (गाढे), नवीन और प्रमाण युक्त छन्ने से विधि पूर्वक छाना गया हो। जीवानी यथा स्थान पहुँचाई गई हो। स्वयं हाथ से लाया गया हो। विधिवत् छाने जाने के ४८ मिनिट के भीतर ही गर्म कर लिया गया हो तथा गर्म पानी की मर्यादा के २४ घण्टे से अधिक का न हो तब वह जल शुद्धि हो जाती है।

४. द्रव्य:—

पात्रों (मुनियों) के संयम, तप एवं स्वाध्याय में सहायक अन्नपान एवं शास्त्रादि को द्रव्य कहते हैं। अर्थात् अन्याय या अनीति से उपार्जन किया हुआ न हो। आहार, औषधि, आवास, पुस्तक, पीछी एवं कमण्डलु आदि ४६ मल दोषों से रहित हो। जो द्रव्य साधु को देने योग्य हो (स्वर्ण, चांदी, रुपया, पैसा, मोटर, गाड़ी आदि न हो) जिस द्रव्य के ग्रहण से साधु के मन में रागद्वेष, मद, असंयम, काम, क्रोध एवं लोभ आदि विकार तो उत्पन्न न हो अपितु रत्नत्रय की वृद्धि में कारण हो उसे द्रव्य विशेष कहते हैं।

आहारदान:—

उपर्युक्त विधि से पात्रों को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक खाद्य (दाल रोटी, चांवल आदि), स्वाद्य (लड्डू, पेड़ा, पुआ, पकोड़ी आदि), लेह्य (रबड़ी आदि चाटने योग्य पदार्थ) तथा पेय (दूध, पानी,

रस आदि) आदि चार प्रकार का शुद्ध आहार देना चाहिए। आहार दान का आनुषांगिक फल भोग सामग्रियों की प्राप्ति तथा परम्परा फल मोक्ष है।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में स्थित पुष्कलावती देश के अन्तर्गत पुण्डरीकिणी नगर में राजा वसुपाल राज्य करता था। वहीं पर सुकेतु नाम का वैश्य अपनी पत्नि धारणी के साथ धर्म साधन करते हुये रहता था। एक समय वैश्य ने व्यापार हेतु द्वीपांतर को प्रस्थान किया और नगर के बाहर नागदत्त सेठ के द्वारा बनवाये हुये नागभवन के समीप एक उद्यान में ठहर गया। मध्याह्न वेला में उसकी स्त्री धारणी भोजन लेकर आई। सेठ अतिथि संविभाग का धारी था अतः पडिगाहन के लिए खड़ा हो गया और गुणसागर मुनिराज पधार गये। सेठ ने भक्ति पूर्वक यथोक्त विधि से आहार दिया। निरन्तराय आहार हो जाने के कारण पंचाश्चर्य हुये और उसके निवास स्थान के आगे साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा हुई "ये रत्न मेरे नाग भवन के आगे गिरे हैं" यह कह कर उठा लिये, किन्तु वे फिर वहीं पहुँच गये, जिससे नागदत्त ने क्रोध में आकर एक रत्न जोर से शिला पर पटक दिया। रत्न फूटा तो नहीं किन्तु शिला से टकरा कर नागदत्त के सिर में लग गया। जिससे अति क्रोधित होता हुआ नागदत्त राजा के पास जाकर बोला-महाराज! मैंने आपके नाम से एक नागभवन बनवाया है जिसके सामने [illegible]

आहार दे [illegible]

ी स्थान पर वापस जाकर स्थित हो गये। तब राजा ने रत्न-
ृष्टि के कारणों का पता लगाया। जब राजा को यह ज्ञात हुआ
कि सुकेतु सेठ ने गुणसागर मुनिराज को आहार दान दिया है,
उसके पुण्य प्रभाव से रत्न वृष्टि हुई है, तब राजा को बहुत पश्चाताप
हुआ और उसने सुकेतु सेठ को बुला कर क्षमा याचना की, तथा
उसका बहुत सम्मान करते हुये कहा कि तुम जैसे रत्न को द्वीपांतर
ने की आवश्यकता नहीं अपने घर में सुख पूर्वक रहो। सेठ
सुकेतु भी अपने घर में सुख पूर्वक रहते हुये दान पूजनादि में दत्त-
चित्त रहने लगा।

अतिशय निर्मल परिणामों से दिये हुये आहार दान का
तत्क्षण फल प्राप्त हुआ, अतः प्रत्येक गृहस्थ को नियम से प्रतिदि
आहार दान में प्रवृत्ति करना चाहिए।

औषधि दान:—वात, पित्त व कफ की विकृति से, रस,
आदि धातुओं के विकार से तथा मल-मूत्र के विकार से उ
होने वाले कष्ट को शारीरिक व्याधि, मानसिक पीड़ा, खोटे वि
चिन्ता, बुरे स्वप्न एवं भय आदि से होने वाले कष्ट को मा
व्याधि तथा शीत, उष्ण, आक्रमण एवं उपसर्ग आदि से
कष्ट को आगन्तुक व्याधि कहते हैं। गृहस्थों के द्वारा इन
का दूर किया जाना ही औषधि दान कहलाता है।

मुनि—आर्यिकाओं आदि के रोग ग्रस्त हो जाने
रत्नत्रय की विराधना होने की सम्भावना हो सकती
एवं बाधा ग्रस्त साधुओं को उपेक्षा

चाहिए।

जो गृहस्थ संयमियों की रोग बाधा को दूर करके उनके रत्नत्रय वृद्धि में सहायक बनते हैं, वे स्वर्गादि के सुख भोग कर अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। मुख पर सदा प्रसन्नता रहना, शरीर का सुन्दर, निरोग, तेजस्वी और बलवान होना, धनादि विभूति का मिलना तथा ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होना औषधि दान के ही फल हैं, इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को निरन्तर औषधि दान देते रहना चाहिए।

भारतवर्ष के जनपद देश गत कावेरी नगर में उग्रसेन राजा राज्य करते थे। राजघराने में एक ब्राह्मण की नागश्री नाम की कन्या झाड़ू बुहारी का कार्य करती थी। एक दिन मुनिदत्त मुनिराज महल के कोट के भीतर एक पवित्र गड्ढे में बैठ कर ध्यान कर रहे थे। नागश्री बुहारी लगाती हुई वहाँ आई और साधु को देख कर क्रोध से बोली—ओ नंगे ढोंगी, यहाँ से उठ मुझे झाड़ने दे, इत्यादि। मुनि ध्यान में थे वे अडिग रहे, तब नागश्री ने क्रोध में आकर उनके ऊपर सब जगह का कूड़ा-कचरा लाकर डाल दिया। प्रातः राजा उस ओर से निकले और मुनि के श्वास से कचरे को हिलते देख कर उसे (कचरा) हटाया तथा मुनिराज को निकाल कर यथा योग्य उपचार किया। मुनिराज की शान्त मुद्रा को देख कर नागश्री को बहुत पश्चाताप हुआ और उसने अपने आप को बहुत धिक्कारा। मुनि से बारम्बार क्षमा मांगी, तथा उनके कष्ट को दूर करने का बहुत प्रयत्न किया, अनेक प्रकार

की औषधियों से उपचार किया तथा तन मन से मुनिराज की सेवा में भरपूर प्रयत्न किया। उस सेवा के फल से नागश्री के पाप कर्मों की स्थिति बहुत कम रह गई और वह मर कर उसी नगर में धनपति सेठ की धनश्री सेठानी से वृषभसेना नाम की पुत्री हुई जो औषधि दान के फल से सर्वौषधि गुण से विशिष्ट थी। उसके स्नान के जल से समस्त रोग नाश हो जाते थे। इसलिये सभी गृहस्थों को औषधि दान अवश्य देना चाहिए।

ज्ञान (शास्त्र) दानः—

मुनि-आर्यिका आदि संयमी जनों को तथा जैनागम का अध्ययन करने वाले छात्रों को विद्वान पण्डितों को, शास्त्रों की, निवास स्थान की एवं आहारादि की यथा-योग्य सुविधा देकर उन्हें विद्वान बना देना शास्त्र (ज्ञान) दान कहलाता है, क्योंकि यदि विद्वानों को नहीं सम्हाला जायगा या विद्वान पैदा नहीं किये जायेंगे तो तीर्थंकर भगवान के द्वारा कहा हुआ समस्त श्रुत जो ग्यारह अंगों, चौदह पूर्वों तथा प्रकीर्णकों में कहा हुआ था, जो बहुभाग में विलुप्त हो चुका है, जिसका अति अल्प अंश अवशेष रहा है, वह भी जड़ मूल से नष्ट हो जायगा, फिर यह जगत अंधों की तरह यत्र तत्र गिरता पड़ता हुआ अन्त में गड्ढों में अर्थात् नरक तिर्यंच गतियों में जाकर पड़ेगा। इसलिए जैन शासन की सुरक्षा के लिये मुनि-आर्यिकाओं को विद्वान बनाना चाहिये। जैन शास्त्रों के ज्ञाता विद्वानों को प्रोत्साहित करते रहना चाहिये और जैन विद्वान उत्पन्न करने के लिए विद्यालयों एवं गुरुकुलों में

विद्यार्थियों के धार्मिक संस्कारों को दृढ़ करते हुये जैन शास्त्रों का पठन-पाठन कराना चाहिए तथा वर्तमान में जो विद्यालय आदि हैं उनमें जिनागम का पठन-पाठन चालू रखने के लिये आर्थिक सहायता देते रहना चाहिये। जिनागम का ज्ञान ही जैन धर्म का प्राण है और उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व गृहस्थों के ऊपर है अतः उन्हें निरन्तर प्रयत्न द्वारा अर्थात् ज्ञान दान द्वारा इसे समृद्ध बनाते रहना चाहिए।

जो गृहस्थ विनय, उत्साह और प्रसन्नता पूर्वक शास्त्र दान देकर मुनि-आर्यिका आदि संयमियों को और छात्रों आदि को विद्वान बनाने का चोमुखी प्रयत्न करता रहता है वह नियम से श्रुतकेवली होता हुआ अन्त में केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी से अलंकृत होता है।

इसी भारत वर्ष के कुरुमरी ग्राम में गोविन्द नाम का एक ग्वाला रहता था। एक बार जंगल में वृक्ष की एक कोटर में उसे जैन धर्म का एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ, जिसे वह अपने घर लाया और प्रतिदिन भक्ति पूर्वक उसकी पूजन करने लगा। एक दिन उसे पद्मनन्दि मुनिराज के दर्शन हुये, गोविन्द ने वह शास्त्र मुनिराज को समर्पण कर दिया। कुछ दिनों बाद अचानक गोविन्द की मृत्यु हो गई और वह उसी ग्राम में गांव के प्रमुख चौधरी के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्व भव के पुण्योदय को भोगते हुए वह सुख पूर्वक रह रहा था। एक दिन उसे उन्हीं पद्म-नन्दि मुनिराज के दर्शन हुये और उनका दर्शन मात्र से उसे जाति

रण हो गया जिससे उसने उन्हीं मुनिराज से दीक्षा ग्रहण कर तथा आयु के अन्त में शान्ति पूर्वक मृत्यु लाभ कर कोण्डेस नाम महान प्रतापी राजा हुआ। पूर्व पुण्योदय से चिरकाल तक ज्य सुख को भोग कर दीक्षा ग्रहण की तथा ज्ञान दान के अनुपम र से श्रुतकेवली होकर अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। ज्ञान अंधकार के विनाश और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिये हस्थों को निरन्तर ज्ञानदान में प्रवृत्त होना चाहिए।

भयदानः—

अभयदान समस्त दानों में श्रेष्ठ है क्योंकि यह शास्त्रवेत्ता, तपस्वी और अन्य समस्त दानों का कर्ता है। सम्पूर्ण कल्याण म्परायों को देने वाला है, समस्त प्राणियों की रक्षा करने वाला इसलिये गृहस्थों को निरन्तर अभयदान में प्रवृत्ति करना चाहिए।

विदेह क्षेत्रस्थ पुण्डरीक नामक देश के चक्रधर नगर में त्रिभुवनानंद नाम का चक्रवर्ती रहता था। उसके अनंगशरा नाम की सर्वगुण सम्पन्न कन्या थी जिसे प्रतिष्ठितपुर का स्वामी पुनर्वसु हरण करके ले गया। तथा चक्रवर्ती के सेवकों द्वारा पीछा किये जाने पर उसे श्वापद नामक अति भयंकर अटवी में गिरा दिया। वहां शोक से व्याकुल अनंगशरा तीन हजार वर्ष तक वहीं रही। एक बार अपने आप पृथिवी पर गिरे हुये फलों से या कभी केवल जल मात्र से पारणा करती थी। बेला-तेला उपवास करती थी। दिन में एक बार ही फल एवं जल ग्रहण करती थी। तदनन्तर तीन

हजार वर्ष बाद विरक्त होकर उसने चारों दिशाओं में सौ-सौ हाथ भूमि का प्रमाण रखा, तथा चारों प्रकार के आहार जल का त्याग कर सल्लेखना धारण करली। सल्लेखना ग्रहण के छह दिन ही हुये थे कि मेरु वन्दना से लौटते हुये लब्धिदास सेठ ने उसे देखा और घर ले जाने को उद्यत हुआ किन्तु सल्लेखना ग्रहण कर चुकने के कारण अनगसेना नहीं गई। सेठ ने जाकर चक्रवर्ती से समस्त समाचार कह दिये। चक्रवर्ती तत्क्षण उसे लेने के लिये आया। जब तक चक्रवर्ती उसके समीप पहुँचा तब तक एक भयंकर मोटा अजगर उसे आधा निगल चुका था। अनंगसेना ने पिता को देख कर भी शोक नहीं किया और न अजगर पर क्रोध ही किया अपितु पिता से विनय पूर्वक प्रार्थना करके अजगर को अभय प्रदान कराया। पुत्री की यह दुर्दशा और आत्म दृढ़ता देख कर चक्रवर्ती को वैराग्य हो गया उसने अपने बाईस हजार पुत्रों के साथ दीक्षा ले ली। अनंगसेना बाह्य तप के प्रभाव से ईशान स्वर्ग में देवी हुई तथा वहाँ से चय कर द्रोणमेघ के विशल्या नाम की पुत्री हुई। अनंगसेना की पर्याय में अजगर को देखते ही उसने निश्चय कर लिया था कि यह मेरे प्राण लेगा फिर भी दया भाव से प्रेरित हो उसने उसे अभय दान दिया और पिता से भी अभयदान दिलाया, इस पुण्य से उसके गर्भ में आते ही चिरकाल से रुग्ण उसकी माता निरोगता को प्राप्त हो गई तथा जन्म लेने के बाद विशल्या के स्नान के पानी से समस्त रोगों का नाश होता था। [illegible] वायुकुमार देव के द्वारा प्रसारित महारोग एवं क्षयकारिणी वायु

का शमन विशल्या के स्नान जल से हुआ। लक्ष्मण की शक्ति भी विशल्या के स्पर्श से ही निकली। अन्त में लक्ष्मण के साथ ही विशल्या का विवाह हुआ, जो चिरकाल तक संसार के इन्द्रिय जन्य सुख भोग कर अन्त में दीक्षा धारण कर स्वर्ग गई और परम्परा मोक्ष को प्राप्त करेगी।

इसी प्रकार विन्ध्य पर्वत की गुफा में ध्यानस्थ गुप्त और त्रिगुप्तिगुप्त नामक दो मुनिराजों पर एक व्याघ्र आक्रमण करना चाहता था किन्तु मुनि रक्षा के भाव से एक सुअर ने उसका सामना किया। परस्पर में दोनों का युद्ध हुआ। अभयदान के भावों से सुअर मर सौधर्मस्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ और मुनि घात के भावों से व्याघ्र मर कर नरक गया।

इस प्रकार अभय दान का एवं पुण्य पाप का फल जान कर भव्य जीवों को दानादि पुण्य कार्यों में अपनी बुद्धि लगाना चाहिए। निरपेक्ष भाव से अभयदान देने वाले दाता को कामदेव समान सुन्दर रूप, सुमेरु सदृश स्थिरता, समुद्र सदृश गम्भीरता, सुभगता, सौम्यता, निरोगता, प्रतापी पना, और यशोनिधि, त्यागी, भोगी एवं चिरंजीवी पना प्राप्त होता है।

दान (पात्र) दत्ति, समदत्ति, दया दत्ति और अन्वय दत्ति के भेद से भी दान चार प्रकार का होता है।

दान (पात्र) दत्तिः—

दाता के सात गुणों से युक्त उपर्युक्त विधि अनुसार उत्तम आदि पात्रों को आहार आदि चारों प्रकार का दान देना दान दत्ति है।

समदत्तिः—

जिनका धर्म समान है अर्थात् जिनके क्रिया, मन्त्र एवं व्रतादिक समान हैं, उन्हें साधर्मी कहते हैं। ऐसे साधर्मियों के लिये वात्सल्य आदि बुद्धि से कन्या रत्न, जमीन, रत्न, सोना, चांदी, रथ, हाथी, घोड़े, वस्त्र, वर्तन, मकान, नगर तथा और भी त्रिवर्ग के साधन भूत पदार्थों को देना समदत्ति दान है।

दया दत्तिः—

जो शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से दुःखी हैं, तथा दीन दुःखी, अंधे, बहरे, गूंगे, लंगड़े एवं रोगी आदि हैं, उन्हें करुणा पूर्वक भोजन, वस्त्र, औषधि आदि के साथ साथ समस्त प्राणियों के दुःख को नष्ट करने वाला अभय दान देना दयादत्ति दान है।

अन्वय दत्ति —

अपने पुत्र को गृहस्थी का सम्पूर्ण भार सौंप कर निश्चित एवं निशल्य होते हुये दीक्षा धारण करना या धर्माराधन करना अन्वय दत्ति दान है।

अन्य प्रकार से दान के भेद:—सात्विक दान, राजसदान और तामस दान से भी दान के तीन भेद होते हैं।

सात्विक दानः—

जिस दान में अतिथि के हित का विचार किया जाता है पात्र को देख कर स्वयं आगे आप उठ कर उसका आतिथ्य-सत्कार करते हुवे दान दिया जाता है। पात्र के गुणों की यथार्थ परीक्षा

होती है तथा जिसमें दाता भी श्रद्धा, भक्ति आदि सात गुणों से युक्त होता है उसे सात्विक दान कहते हैं। उपर्युक्त तीनों दानों में यह दान उत्तम कोटि का है।

राजस दानः—

जिस दान में अपनी प्रसंशा की प्रमुखता रहती है, जिसे दाता प्रतिदिन नहीं देता, कभी कभी देता है, जो क्षणभर के लिए मनोज्ञ है, जिसमें दान देते समय ही क्षमा, सत्वादि गुणों की दिखावट रहती है, तथा जिसमें दाता को स्वयं तो दान पर विश्वास नहीं होता किन्तु किसी को दान से मिलने वाले फल को देख कर जो दान दिया जाता है उसे रजोगुण की प्रधानता के कारण राजस दान कहते हैं। यह दान मध्यम है।

तामस दानः—

जिस दान में पात्र को अपात्र समझा जाता है अथवा पात्र और अपात्र को एक समझा जाता है, जो बिना किसी आदर-सत्कार एवं स्तुति के दिया जाता है तथा जो दास व नौकरों आदि से दिलाया जाता है वह सब तामस दान है। यह दान जघन्य है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

जिस प्रकार सुन्दर और सुदृढ़ (मजबूत) मन्दिर बनाने [illegible] उसकी नींव भी मजबूत और

ठोस भरता है उसी प्रकार संसार के भयंकर दुःखों से छुड़ा कर जो स्वर्ग-मोक्ष तक भेजने वाला है ऐसे संयम रूपी महल उठाने की इच्छा रखने वाले भव्य ने उसकी नींव भरने के सदृश अष्ट-मूलगुणों को धारण कर लिया है, सप्त व्यसनों का परित्याग कर दिया है, जो मल दोषों से रहित सम्यग्दर्शन को धारण कर चुका है, तथा जो अपने षडावश्यकों में दत्तचित्त रहता है वह अपने आत्मिक विकास हेतु जिस महल में जाना चाहता है उस महल की ग्यारह सीढ़ियाँ हैं। इन सीढियों का नाम ही ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। अथवा क्रमशः रागभाव के घटने और संयम भाव के बढ़ने को प्रतिमा कहते हैं। अथवा "प्रतिमा वत् प्रतिमा" अर्थात् जिस प्रकार पाषाण आदि की प्रतिमा बाहर-भीतर एक सदृश रहते हुये निश्चल रहती है, उसी प्रकार बाह्य-अभ्यन्तर विकार को छोड़ने और अपने व्रतादिकों में दृढ़ रहने का नाम प्रतिमा है।

ये सब प्रतिमाएँ देश संयम का भेद हैं। अप्रत्याख्याना-वरण कषाय के अनुदय के साथ साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का जैसे जैसे मन्द उदय होता जाता है, वैसे वैसे श्रावकों की इन प्रतिमाओं में वृद्धि होती जाती है अर्थात् उत्तरोत्तर आगे आगे पहिली से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में परिणामों की निर्मलता क्रमशः बढ़ती जाती है। इसीलिये अगली प्रतिमाओं को धारण करने वाला पूर्व प्रतिमा सम्बन्धी आचरण अवश्य ही करता है।
(१) दर्शनिक, (२) व्रती, (३) सामायिकी, (४) प्रोषधी,

(५) सचित्त त्यागी, (६) रात्रिभुक्ति विरत, (७) ब्रह्मचारी, (८) आरम्भ विरत, (९) परिग्रह विरत, (१०) अनुमति विरत और (११) उद्दिष्ट विरत ये ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। इनमें से प्रारम्भ से छठवीं प्रतिमा धारी पर्यन्त जघन्य श्रावक, ७ वीं, ८ वीं और ९ वीं प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक तथा दशवीं और ११ वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

दर्शन प्रतिमा का स्वरूपः—

मोक्ष महल की नींव सम्यग्दर्शन है। नींव के ऊपर देश संयम रूप भवन खड़ा करने की इच्छा रखने वाला २५ मल दोषों से रहित जो सम्यग्दृष्टि जीव अतीचार रहित अष्टमूल गुणों को पालन करता है, अतिचार सहित सप्त व्यसनों का और रात्रि भोजन का त्याग करता है, संसार, शरीर, और भोगों से विरक्त होता है, पंचपरमेष्ठी के चरणों की शरण ग्रहण करता है और सच्चे मार्ग पर चलता है, वह दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है तथा श्रावक की इन निर्दोष क्रियाओं का ही नाम दर्शन प्रतिमा है।

व्रतप्रतिमा का स्वरूपः--

दर्शन प्रतिमा धारी श्रावक माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों का त्याग करता है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष का विनाश करने की भावना से पंचाणु-अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाण व्रतों का पालन निरतिचार रूप से करता है तथा चा[illegible] ग्रहण किये हुये गुणव्रतों अर्थात् दिग्व्रत, देशव्रत और [illegible]

व्रतों को एवं मुनिव्रत धारण की शिक्षा देने वाले चार शिक्षाव्रतों को परम प्रीति पूर्वक धारण करता है उसे व्रतप्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं।

सामायिक प्रतिमाः--

रागद्वेष की निवृत्ति को "सम" और प्रशम, संवेग आदि रूप ज्ञान प्राप्ति को "अय" कहते हैं, इन दोनों को मिलाने से "समाय" बनता है तथा समाय जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं। दूसरी प्रतिमा में सामायिक शिक्षा व्रत अभ्यास रूप में था किन्तु इस प्रतिमा में तीनों कालों में निरतिचार एव कृतिकर्म अर्थात् सामायिक दण्डक तथा थोस्सामि दण्डक, चार बार तीन तीन आवर्त, और भूमि नमस्कार पूर्वक चार प्रणाम पूर्वक जघन्य दो घड़ी (४८ मिनिट), मध्यम चार घड़ी और उत्कृष्ट रूप से छह घड़ी पर्यन्त तीनों योगों को शुद्ध रखते हुये जो सामायिक की जाती है उसे सामायिक प्रतिमा कहते हैं।

प्रोषधोपवास प्रतिमाः—

प्रत्येक महिनों के चार-चार (दो अष्टमी दो चतुर्दशी) पर्वों में अपनी शक्ति को न छिपा कर, धर्म ध्यान में लीन रह कर साम्य भाव के संस्कारों को दृढ़ करने के लिए जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यह उत्कृष्ट, मध्यम और [illegible]र के भेद से तीन प्रकार का होता है।

सप्तमी और नवमी को एक बार शुद्ध भोजन करके

सावद्य योग के त्याग पूर्वक अष्टमी को उपवास करना उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है।

सप्तमी और नवमीं को दोनों वार भोजन तथा अष्टमी को उपवास मध्यम प्रोषध है। मध्यम प्रोषधोपवास के अनेक भेद हैं।

अष्टमी को एक स्थान पर एक बार आचाम्ल-निर्विकृति करना अथवा एकाशन करना जघन्य प्रोषधोपवास है।

सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूपः—

जिनागम पर दृढ़ प्रतीति और इन्द्रियनिग्रह की दृढ़ता के अवलम्बन से हरित छाल, पत्र, प्रवाल, शाक, कोंपल, करीर (बांस के अंकुर) आदि तथा कच्चे फल, फूल, बीज, अंकुर, पानी और नमक आदि को छिन्न-भिन्न अथवा अग्नि आदि के सम्पर्क से अचित्त-प्रासुक किये बिना नहीं खाना सचित्त त्याग प्रतिमा कहलाती है।

रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा:—

पूर्व की पांचों प्रतिमाओं को निरतिचार पालन करते हुये दयालु व्रतधारी श्रावक का रात्रि में मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों से खाद्य-दाल, चावल, रोटी आदि, स्वाद्य-लड्डू, पेड़ा, कलाकन्द आदि, लेह्य-रबड़ी आदि, तथा पेय-फलों के एवं दाख आदि के रस, दूध, छाछ, जल आदि चारों प्रकार के आहार का त्याग करना रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा कहलाती है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमाः--

एक देश प्राणि संयम और एक देश इन्द्रिय संयम पालन के अभ्यास से जिन्होंने अपने मन को वश कर लिया है ऐसे पवित्रात्मा श्रावकों के द्वारा मल बीज, मल योनि गलनमल, पूतगंध एवं वीभत्स शरीर धारी, मानवी, तिर्यंचनी एवं चित्राम आदि को समस्त स्त्रियों के सेवन का मन, वचन और काय से त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहलाती है।

आरम्भ त्याग प्रतिमाः--

पूर्वोक्त सात प्रतिमाओं को निरतिचार पालन करने वाला और भोग-उपभोग की स्त्री आदि सचित्त वस्तुओं का त्याग कर देने वाला श्रावक हिंसा के कारण भूत, सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भों का त्याग करते हुये नवीन धन उपार्जन की प्रक्रियाओं से विरक्त होता है। परिग्रह संचय करने की विधि विशेष को आरम्भ कहते हैं इसलिये आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी श्रावक अभिषेक, दान, पूजन आदि का आरम्भ कर सकता है क्योंकि यह आरम्भ धन संचय एवं प्राणघात (हिंसा) का कारण नहीं है, इतना ही नहीं अपितु अपने स्नान का जल भरना, अपने वस्त्र साफ करना, अपने स्थान पर बुहारी लगाना, अपने स्वयं के लिए भोजन बनाना, यदि पात्र आ जावे तो उसे आहार दान देना आदि कार्य भी कर सकता है। गृह में अथवा गृह त्याग कर संघ आदि में धर्म साधन करता है।

परिग्रह त्याग प्रतिमाः—

पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करने से जिसके हृदय में सन्तोष प्रगट हो गया है, जो धैर्यवान् है, ऐसा श्रावक क्षेत्र (खेत) वास्तु (मकान) हिरण्य (चांदी), स्वर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य (वस्त्र) और भाण्ड (बर्तन) आदि बाह्य परिग्रह में ममत्व भाव का त्याग कर अपने पद एवं संयम के योग्य परिग्रह के सिवा अन्य का त्याग कर देता है, उसे परिग्रह त्याग प्रतिमा धारी कहते हैं। परिग्रह त्यागी गृह का त्याग कर मुनि संघ में या धर्मशाला आदि में रहता है श्रावक के द्वारा निमन्त्रण आने पर एक बार शुद्ध भोजन करता है।

अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूपः—

जो धन-धान्यादि परिग्रह, कृषि वाणिज्य आदि आरम्भ और विवाह आदि के सम्बन्ध में मन, वचन और काय से अनुमति नहीं देता वह अनुमति त्याग प्रतिमा धारी कहलाता है इस प्रतिमा का धारी मुनिसंघ में अथवा जिन मन्दिर आदि में रह कर स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं को करे। निमन्त्रण आने पर अपने पुत्र पौत्रादि एवं साधर्मी जनों के घर जाकर दिन में एक बार शुद्ध भोजन करे।

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूपः—

इस प्रतिमा को अंगीकार करने वाले उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं, क्षुल्लक और ऐलक के भेद से ये दो प्रकार के होते हैं। जो गृह का त्याग कर मुनियों के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण

करते हैं। भिक्षा वृत्ति से आहार लेते हैं, उद्देश्य से बनाये हुये भोजन, वस्त्र, उपाधि को ग्रहण नहीं करते। एक लंगोट और एक खण्ड वस्त्र (सिर ढके तो पैर न ढकें और पैर ढकें तो सिर न ढके) धारण करते हैं। दाढ़ी तथा सिर के बालों को कैंची उस्तरे आदि से कटवा लेते हैं, अथवा केशलोंच भी कर लेते हैं। पीछी आदि से स्थान आदि का संमार्जन करते हैं। निश्चल एक स्थान पर बैठ कर हाथ में थाली में अथवा हाथ में कटोरा रख कर मौन पूर्वक दिन में एक बार भोजन करते हैं, पैदल विहार करते हैं। मोटर रेल, हवाई जहाज आदि में यात्रा नहीं करते और निरन्तर मुनि बनने की भावना भाते हुये धर्म ध्यान में लीन रहते हैं। मुनिजनों की वैयावृत्य में तत्पर रहते हैं, उन्हें क्षुल्लक कहते हैं।

जो मात्र एक लंगोट रखते हैं, मयूरपिच्छ से मार्जन करते हैं, नियम से केशलोंच करते हैं, बैठ कर अपने हाथ में भोजन करते हैं, विहार पैदल करते हैं, और उद्देश्य पूर्वक तैयार किये हुए भोजन आदि को ग्रहण नहीं करते हैं, उन्हें ऐलक कहते हैं।

उत्तरोत्तर आत्म विकास की ये ग्यारह श्रेणियां या सोपान हैं, श्रावक पद की यह चरम सीमा है। इस ग्यारहवें सोपान से उठाया हुआ कदम ही मुनि पद की प्राप्ति है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता का नाम मोक्षमार्ग है। मार्ग का विवेचन दो प्रकार से होता है, (१) उत्सर्ग मार्ग अथवा उत्कृष्ट रीति से परिग्रह का त्याग करना,

यही उत्सर्ग मार्ग मुनिधर्म कहलाता है किन्तु जो एकाएक इस मुनि धर्म-उत्सर्ग मार्ग को अपनाने में असमर्थ हैं उन्हें अपवाद अर्थात् परिग्रह सहित जो विधी है जिसे गृहस्थ धर्म कहते हैं, उसे समुचित एवं निरतिचार रीति से पालन करते हुये मुनिधर्म पालन की योग्यता का संचय करना चाहिये क्योंकि मुनिधर्म की निर्दोष प्रतिपालना से निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होगी, रत्नत्रय प्राप्ति से कर्मों का क्षय होगा और कर्मों के क्षय से निराकुल सुख प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन रूपी नींव पर चारित्र रूपी मन्दिर बना कर उस पर सल्लेखना रूपी कलश चढ़ाना अति आवश्यक होता है। क्योंकि आचार्यों ने तपश्चरण का फल सन्यास ही कहा है। तपश्चरण करते हुये भी समाधिमरण की क्रिया के अभाव में संसार रूपी बेल का अभाव नहीं हो सकता, इसलिये श्रावक हो या साधु उन्हें अन्त में समाधिमरण की साधना समुचित रीति से करना चाहिए।

समाधिमरण का सांगोपांग वर्णन सन् १९७४ में मेरे द्वारा सम्पादित "समाधि दीपक" नामक पुस्तक में किया गया है, इसलिए यहाँ नहीं लिखा जा रहा है।

श्री १०८ आचार्य शिवसागर ग्रंथमाला के

प्रकाशन

प्रथम पुष्प	:	द्रव्यानुयोग प्रवेशिका
द्वितीय पुष्प	:	सारसमुच्चय
तृतीय पुष्प	:	पार्श्वपुराण (कविता)
चतुर्थ पुष्प	:	मुक्ति पथ
पंचम पुष्प	:	पद्म पुराण (दौलतरामजी)
षष्ठम पुष्प	:	त्रिलोकसार
सप्तम पुष्प	:	गुरु गौरव
अष्टम पुष्प	:	पार्श्वनाथ चरित
नवम पुष्प	:	सम्यक्त्व कौमुदी
दशम पुष्प	:	समाधि दीपक
एकादश पुष्प	:	ऋषिमंडल पूजा विधान
द्वादश पुष्प	:	आत्म-प्रसून

श्री १०८ आचार्य शिवसागर ग्रंथमाला
श्री शान्ति वीर नगर
श्री महावीरजी (राजस्थान)